श्री दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र) का मुखपत्र

आत्मधर्म

सम्पादक : डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल
कार्यालय : टोडरमल स्मारक भवन, ए-४, बापूनगर, जयपुर ३०२००४

आत्मधर्म [४२२]

[हिन्दी, गुजराती, मराठी, तामिल तथा कन्नड़ — इन पाँच भाषाओं में प्रकाशित
जैन समाज का सर्वाधिक बिक्रीवाला आध्यात्मिक मासिक]

संपादक :
डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल

प्रबंध संपादक :
अखिल बंसल

कार्यालय :
श्री टोडरमल स्मारक भवन
ए-४, बापूनगर, जयपुर ३०२००४

प्रकाशक :
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (भावनगर-गुजरात)

शुल्क :
आजीवन : १०१ रुपये
वार्षिक : ६ रुपये
एक प्रति : ५० पैसे

मुद्रक :
सोहनलाल जैन
जयपुर प्रिण्टर्स, जयपुर

कहाँ / क्या

१ अब मेरे समकित सावन आयो
२ दोनों नयों की सफलता
३ संपादकीय : जिनवरस्य नयचक्रम्
४ विलसति ज्ञानम्
[समयसार प्रवचन]
५ पंचमहाव्रत
[नियमसार प्रवचन]
६ द्रव्यसंग्रह प्रवचन
७ ज्ञान-गोष्ठी
८ समाचार दर्शन
९ पाठकों के पत्र

ध्यान दें—

आत्मधर्म के ग्राहकों को इस वर्ष भेंट में मिलनेवाली पुस्तक अक्टूबर माह में भेजी जावेगी। इसके लिए 'भेंट-कूपन' आगामी अंक में प्रकाशित किया जावेगा। जिन बंधुओं का शुल्क समाप्त हो गया है, वे तत्काल अपना शुल्क भेज दें, जिससे पुस्तक का लाभ मिल सके। **— प्रबंध संपादक**

आत्मधर्म

शाश्वत सुख का, आत्म शान्ति का, प्रगट करे जो मर्म।
समयसार का सार, सभी को प्रिय, यह आतम धर्म॥

वर्ष : ३६ [४२२] अंक : २

अब मेरे समकित सावन आयो ॥टेक॥
बीति कुरीति मिथ्यामति ग्रीषम,
पावस सहज सुहायो ॥अब० ॥
अनुभव दामिनि दमकन लागी,
सुरति घटा-घन छायो।
बोलें विमल विवेक पपीहा,
सुमति-सुहागिन भायो ॥अब० ॥
गुरुधुनि गरज सुनत सुख उपजै,
मोर सुमन विहँसायो।
साधक भाव अंकूर उठे बहु,
जित-तित हरष सवायो ॥अब० ॥
भूल-धूल कहि मूल न सूझत,
समरस जल झर लायो।
'भूधर' को निकसै अब बाहिर,
निज निरचू घर पायो ॥अब० ॥

बीस वर्ष पहले

[इस स्तंभ में आज से बीस वर्ष पहले आत्मधर्म (हिंदी) मे प्रकाशित महत्त्वपूर्ण अंशों को प्रकाशित किया जाता है।]

दोनों नयों की सफलता

जीव का स्वरूप दो नयों से बराबर ज्ञात होता है, अकेले द्रव्यार्थिकनय से या अकेले पर्यायार्थिकनय से ज्ञात नहीं होता। इसलिए दोनों नयों का उपदेश ग्रहण करने योग्य है।

एकांत द्रव्य को ही स्वीकार करे और पर्याय को स्वीकार न करे तो पर्याय के बिना द्रव्य का स्वीकार किसने किया, काहे में किया? और मात्र पर्याय को ही स्वीकार करे, द्रव्य को स्वीकार न करे तो पर्याय कहाँ दृष्टि लगाकर एकाग्र होगी? इसलिये दोनों नयों का उपदेश स्वीकार करके द्रव्य-पर्याय की संधि करने योग्य है।

द्रव्य-पर्याय की संधि का अर्थ क्या? पर्याय को पृथक् करके लक्ष्य में न लेते हुए, अंतर्मुख करके द्रव्य के साथ एकाकार करना अर्थात् द्रव्य-पर्याय के भेद का विकल्प तोड़कर एकतारूप निर्विकल्प अनुभव करना सो द्रव्य-पर्याय की संधि है; वही दोनों नयों की सफलता है।

पर्याय को जानते हुए उसी के विकल्प में रुक जाये तो वह नय की सफलता नहीं है; उसीप्रकार द्रव्य को जानते हुए यदि उसी में एकाग्रता न करे तो वह भी नय की सफलता नहीं है। द्रव्य-पर्याय दोनों को जानकर दोनों के विकल्प तोड़कर पर्याय को द्रव्य में अंतर्लीन-अभेद-एकाकार करके अनुभव करने में ही दोनों नयों की सफलता है।

— पूज्य कानजीस्वामी

आत्मधर्म, वर्ष १६, अंक १८२, जून १९६०, कवर पृष्ठ २

निश्चय और व्यवहार

[गतांक से आगे]

अब रही निश्चय को भूतार्थ-सत्यार्थ और व्यवहार को अभूतार्थ-असत्यार्थ कहनेवाली बात। सो इसका आशय यह नहीं है कि व्यवहारनय सर्वथा असत्यार्थ है, उसका विषय है ही नहीं। उसके विषयभूत भेद और संयोग का भी अस्तित्व है, पर भेद व संयोग के आश्रय से आत्मा का अनुभव नहीं होता—इस अपेक्षा उसे अभूतार्थ कहा है।

निश्चयनय का विषय अभेद-अखंड आत्मा है, उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होती है—यही कारण है कि उसे भूतार्थ कहा है। समयसार में कहा है:—

'भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो ॥११॥

जो जीव भूतार्थ का आश्रय लेता है, वह जीव निश्चय से सम्यग्दृष्टि है।'

इसके संबंध में श्री कानजीस्वामी के विचार भी दृष्टव्य हैं:—

'प्रयोजनवश शुद्धनय को मुख्य करके सत्यार्थ कहा है और व्यवहारनय को गौण करके असत्यार्थ कहा है। त्रिकाली अभेद शुद्धद्रव्य की दृष्टि करने से सम्यग्दर्शन होता है—यह प्रयोजन सिद्ध करने के लिये त्रिकाली द्रव्य को अभेद कहकर भूतार्थ कहा है और पर्याय का लक्ष्य छुड़ाने के लिये उसे गौण करके असत्यार्थ कहा है। आत्मा अभेद त्रिकाली ध्रुव है—उसकी दृष्टि करने पर भेद दिखायी नहीं देता और भेददृष्टि में निर्विकल्पता होती नहीं है—इसलिये प्रयोजनवश भेद को गौण कर असत्यार्थ कहा है। जन्म-मरण का अंत करने के बीजरूप सम्यग्दर्शन अनंत काल में भी अब तक हुआ नहीं—ऐसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का

प्रयोजन यहाँ सिद्ध करना है—इसलिये शुद्धज्ञायक को मुख्य कर सत्यार्थ कहा है और पर्याय तथा भेद को गौण कर व्यवहार कहकर असत्यार्थ कहा है।'[१]

'यह नहीं समझना कि भेदरूप कोई वस्तु ही नहीं है। द्रव्य में गुण है ही नहीं, पर्याय है ही नहीं, भेद है ही नहीं—ऐसा नहीं है। आत्मा में अनंत गुण हैं, वे सब निर्मल हैं। यदि कोई ऐसा माने कि एकाकार द्रव्य ही है, पर्याय है ही नहीं—तो वह गलत है। दृष्टि के विषय में गुणों का भेद नहीं है, पर अंदर वस्तु में अनंत गुण हैं। भेद सर्वथा कोई वस्तु ही नहीं है—ऐसा मानेगा तो जैसे वेदांतवाले भेदरूप अनित्य को देखकर अवस्तु मायारूप कहते हैं और सर्वव्यापक एक अभेद नित्य शुद्धब्रह्म को वस्तु कहते हैं—वैसा ठहरेगा। उससे तो सर्वथा एकांत शुद्धनय के पक्षरूप मिथ्यात्व का ही प्रसंग आवेगा।'[२]

'माटी के घड़े को घी का घड़ा कहना व्यवहार है—इसलिये व्यवहार झूठा है; क्योंकि घड़ा घीमय नहीं है, किंतु माटीमय है। उसीप्रकार द्रव्य को निश्चय और पर्याय को व्यवहार—और यह व्यवहार घी के घड़े की भाँति झूठा है—ऐसा नहीं है; क्योंकि जिसप्रकार घड़ा घीमय नहीं है, उसीप्रकार पर्याय हो ही नहीं—यह बात नहीं है। पर्याय अस्तिरूप है। पर्याय को व्यवहार कहा है—पर वह नहीं हो—यह बात नहीं है। राग-पर्याय असद्भूत व्यवहारनय का विषय है। इन पर्यायों को अभूतार्थ कहा है—इसकारण वे पर्यायें हैं ही नहीं, घी के घड़े के समान झूठी हैं—ऐसा नहीं है। क्षायिक आदि चार भावों को परद्रव्य और परभाव कहा—इससे वे पर्यायें हैं ही नहीं, झूठी हैं—ऐसा नहीं है। घड़ा कुम्हार ने बनाया है, ऐसा कहना जैसे झूठा है, उसीप्रकार अशुद्ध पर्यायों को व्यवहार कहा-अतः वे पर्यायें भी झूठी हैं—ऐसा नहीं है। जीवत्व, भव्यत्व, अभव्यत्व आदि पर्यायनय के विषय हैं—वे व्यवहारनय से भूतार्थ हैं। पर्याय नहीं हैं-ऐसा नहीं है।

द्रव्यार्थिकनय से पर्याय को अभूतार्थ कहा—उससे पर्यायें हैं ही नहीं—ऐसा नहीं है। किंतु निश्चय की मुख्यता से पर्याय को गौण करके व्यवहार कहकर वहाँ से दृष्टि हटाने के प्रयोजन से उन्हें असत्यार्थ कहा है। इससे ऐसा मानना कि पर्यायें हैं ही नहीं—ठीक नहीं है। जिसप्रकार 'घी का घड़ा' वाला व्यवहार झूठा है, उसीप्रकार सभी व्यवहार झूठा है—यह

---

१. प्रवचन रत्नाकर, भाग १ (गुजराती), पृष्ठ १४६

२. प्रवचन रत्नाकर, भाग १ (गुजराती), पृष्ठ १४४-१४५

मानना ठीक नहीं है। नयों का कथन जहाँ जैसा हो वहाँ वैसा समझना चाहिये। यदि ठीक तरह से न समझोगे तो विपरीतता हो जावेगी।'[१]

समयसार की १४वीं गाथा की टीका में भी व्यवहारनय के विषय बद्धस्पष्टादि भावों को व्यवहार से भूतार्थ और निश्चय से अभूतार्थ कहा गया है। तात्पर्य यह है कि व्यवहार को सर्वथा असत्यार्थ न कहकर कथंचित् असत्यार्थ कहा है।

व्यवहारनय को सर्वथा असत्यार्थ माननेवालों को नियमसार के उस कथन की ओर ध्यान देना चाहिये जिसमें यह कहा गया है कि सर्वज्ञ भगवान पर को व्यवहार से जानते हैं।[२] व्यवहार को सर्वथा असत्यार्थ मानने पर केवली भगवान का पर को जानना असत्यार्थ ठहरेगा और सर्वमान्य सर्वज्ञता ही संकट में पड़ जावेगी।

इसीप्रकार व्यवहार को सर्वथा सत्य माननेवालों को भी समयसार के उस कथन की ओर ध्यान देना चाहिये जिसमें व्यवहारनय से जीव और शरीर को एक कहा गया है।[३]

यदि जीव और शरीर को एक कहनेवाले कथन को प्रयोजनवश किया गया कथन न मानकर सर्वथा सत्य मान लिया जाये तो मिथ्यात्व हुए बिना नहीं रहेगा। छहढाला में तो देह और आत्मा को एक माननेवाले को स्पष्टरूप से मिथ्यादृष्टि लिखा है—

'देह जीव को एक गिने बहिरातम तत्त्व मुधा है।[४]

देह और जीव को एक माननेवाला बहिरात्मा है, वह तत्त्व के बारे में मूर्ख है अर्थात् मिथ्यादृष्टि है।'

अत: यह जानना चाहिये कि व्यवहारनय के उक्त दोनों ही कथन प्रयोजनवश किये गये सापेक्ष कथन हैं, अत: कथंचित् सत्यार्थ और कथंचित् असत्यार्थ हैं।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि वह कौनसा प्रयोजन आ पड़ा था कि व्यवहारनय को ऐसी असंबद्ध बातें कहनी पड़ी। इनमें असंबद्धता इस कारण प्रतीत होती है कि एक कथन तो सर्वज्ञता पर ही कुठाराघात करता प्रतीत होता है और दूसरा कथन शरीर और आत्मा को एक बतानेवाला होने से मिथ्यात्व का पोषक प्रतीत होता है।

---

१. आत्मधर्म गुजराती, वर्ष ३६, अंक ३ (४३१), पृष्ठ १३
२. नियमसार, गाथा १५९
३. समयसार, गाथा २७
४. छहढाला, दूसरी ढाल

केवली भगवान का पर को जानना व्यवहार है, इस कथन का प्रयोजन तो यह बताना रहा है कि केवली भगवान जिसप्रकार स्वयं को स्वयं में लीन होकर जानते हैं, उसप्रकार पर को उसमें लीन होकर नहीं जानते। उसे मात्र जानते हैं, उसमें लीन नहीं होते।

जैसा कि परमात्मप्रकाश (अध्याय १, गाथा ५२ की टीका) में स्पष्ट किया गया है—

'**प्रश्न :** यदि केवली भगवान व्यवहारनय से लोकालोक को जानते हैं तो व्यवहारनय से ही उन्हें सर्वज्ञत्व भी होओ परंतु निश्चयनय से नहीं ?

उत्तर : जिसप्रकार तन्मय होकर स्वकीय आत्मा को जानते हैं, उसीप्रकार परद्रव्य को तन्मय होकर नहीं जानते, इसकारण व्यवहार कहा गया है, न कि उनके परिज्ञान का ही अभाव होने के कारण। यदि स्वद्रव्य की भांति परद्रव्य को भी निश्चय से तन्मय होकर जानते तो परकीय सुख व दु:ख को जानने से स्वयं सुखी-दु:खी और परजीव राग-द्वेष को जानने से स्वयं रागी-द्वेषी हो गये होते और इसप्रकार महत् दूषण प्राप्त होता।'

इस संदर्भ में आचार्य जयसेन का कथन भी मननीय है, जो कि इसप्रकार है:—

'**प्रश्न :** सौगतमतवाले (बौद्धजन) भी सर्वज्ञपना व्यवहार से मानते हैं, तब आप उनको दूषण क्यों देते हैं (क्योंकि जैनमत में भी परपदार्थों का जानना व्यवहारनय से कहा जाता है) ?

उत्तर : इसका परिहार करते हैं—सौगत आदि मतों में, जिसप्रकार निश्चय की अपेक्षा व्यवहार झूठ है, उसीप्रकार व्यवहाररूप से भी वह सत्य नहीं है। परंतु जैनमत में व्यवहारनय यद्यपि निश्चय की अपेक्षा मृषा (झूठ) है, तथापि व्यवहाररूप से वह सत्य है। यदि लोकव्यवहाररूप से भी उसे सत्य न माना जाये तो सभी लोकव्यवहार मिथ्या हो जायेगा; और ऐसा होने पर अतिप्रसंग दोष आयेगा। इसलिये आत्मा व्यवहार से परद्रव्य को जानता देखता है, पर निश्चयनय से केवल आत्मा को ही।'[१]

तथा आत्मा और शरीर को एक बतानेवाले व्यवहार कथन का प्रयोजन यह रहा है कि जगत शरीर के संयोग में रहे जीव को भी जाने, अन्यथा निर्जीव भस्म की भाँति सजीव शरीर को भी मसल देगा। जीवों को द्रव्यहिंसा से बचाना—इस कथन का उद्देश्य रहा है।

---

१. जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश, पृष्ठ ५६३

जैसा कि आत्मख्याति में कहा गया है:—

'परंतु यदि व्यवहारनय न बताया जाये तो परमार्थ से (निश्चयनय से) शरीर से जीव को भिन्न बताया जाने पर जैसे भस्म को मसल देने से हिंसा का अभाव है; उसीप्रकार, त्रस-स्थावर जीवों को नि:शंकतया मसल देने-कुचल देने (घात करने) में भी हिंसा का अभाव ठहरेगा और इस कारण बंध का ही अभाव सिद्ध होगा।'[१]

यदि व्यवहारनय कथंचित् भूतार्थ है और कथंचित् अभूतार्थ तो फिर निश्चय-व्यवहार की परिभाषाओं में भूतार्थ को निश्चय और अभूतार्थ को व्यवहार क्यों कहा गया है ?

इसका कारण भी प्रयोजन विशेष रहा है। और वह यह कि निश्चयनय के आश्रय से मुक्ति की प्राप्ति होती है और व्यवहारनय के आश्रय से नहीं। जिसके आश्रय से मुक्ति हो, वह भूतार्थ और जिसके आश्रय से मुक्ति न हो, वह अभूतार्थ है। निश्चय को भूतार्थ और व्यवहार को अभूतार्थ कहने में यही दृष्टि रही है। जिनवाणी में व्यवहारनय को स्थान तो इसलिये प्राप्त हुआ है कि वह भी किन्हीं-किन्हीं को और कभी-कभी प्रयोजनवान होता है और अभूतार्थ इसलिये कहा गया है कि इसके आश्रय से मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती।

आचार्य जयसेन ने समयसार की ११वीं गाथा के अर्थ में भी व्यवहारनय को भूतार्थ और अभूतार्थ कहा है। उन्होंने उक्त गाथा का अर्थ दो प्रकार से किया है। इसका अर्थ इसप्रकार है:—

'दूसरे व्याख्यान से व्यवहारनय अभूतार्थ है और भूतार्थ भी कहा गया है। मात्र व्यवहारनय दो प्रकार का नहीं कहा गया है अपितु 'दु' शब्द से निश्चयनय भी दो प्रकार का जानना चाहिये। भूतार्थ और अभूतार्थ के भेद से व्यवहारनय दो प्रकार का है और शुद्धनिश्चय और अशुद्धनिश्चय के भेद से निश्चयनय भी दो प्रकार का हुआ—इससप्रकार चार नय हुए।'

यहाँ विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि आचार्य जयसेन, आचार्य अमृतचंद्र द्वारा किये गये अर्थ को, जिसमें कि निश्चयनय को भूतार्थ और व्यवहारनय को अभूतार्थ कहा गया है, मुख्यरूप से स्वीकार कर रहे हैं। साथ ही दूसरे व्याख्यान से अर्थात् दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि कहकर उक्त अर्थ करते हैं।

दूसरे ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि वे व्यवहार के तो भूतार्थ-अभूतार्थ भेद करते हैं,

---

१. समयसार, गाथा ४६ की टीका

पर निश्चय के भूतार्थ-अभूतार्थ भेद न करके शुद्ध-अशुद्ध भेद करते हैं। इसमें निश्चयनय को अभूतार्थ कहने में जो संकोच उन्हें हुआ है, वह स्पष्ट हो जाता है।

यदि निश्चय के भूतार्थ-अभूतार्थ भेद भी किये जाते तो भी कोई विरोध नहीं आता, क्योंकि अध्यात्म में अशुद्धनय को व्यवहार भी कहा है। इसकारण शुद्धनिश्चय अर्थात् निश्चय भूतार्थ और अशुद्धनिश्चय अर्थात् व्यवहार ही अभूतार्थ प्रतिफलित होता।

निश्चय के कथन का वास्तविक मर्म न समझकर उसके द्वारा व्यवहार का निषेध सुनकर कोई व्यवहार के विषय की सत्ता का भी अभाव न मान ले—इस दृष्टि से यद्यपि व्यवहार को भी कथंचित् सत्यार्थ कहा गया है, तथापि इसका आशय यह भी नहीं कि उसे निश्चय के समान ही सत्यार्थ मानकर उपादेय मान लें। उसकी जो वास्तविक स्थिति है, उसे स्वीकार करना चाहिये।

इस संदर्भ में पंडित टोडरमलजी ने साफ-साफ लिखा है:—

'व्यवहारनय स्वद्रव्य-परद्रव्य को व उनके भावों को व कारण-कार्यादिक को किसी को किसी में मिलाकर निरूपण करता है; सो ऐसे ही श्रद्धान में मिथ्यात्व है; इसलिये उसका त्याग करना। तथा निश्चयनय उन्हीं को यथावत् निरूपण करता है, किसी को किसी में नहीं मिलाता है; सो ऐसे ही श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है; इसलिये उसका श्रद्धान करना।

यहाँ **प्रश्न** है कि यदि ऐसा है तो जिनमार्ग में दोनों नयों का ग्रहण करना कहा है, सो कैसे?

समाधान : जिनमार्ग में कहीं तो निश्चयनय को मुख्यता लिये व्याख्यान है, उसे तो 'सत्यार्थ ऐसे ही है'—ऐसा जानना। तथा कहीं व्यवहारनय की मुख्यता लिये व्याख्यान है उसे ऐसे है नहीं, निमित्तादि की अपेक्षा उपचार किया है—ऐसा जानना। इसप्रकार जानने का नाम ही दोनों नयों का ग्रहण है। तथा दोनों नयों के व्याख्यान को समान जानकर 'ऐसे भी है, ऐसे भी है'—इसप्रकार भ्रमरूप प्रवर्तन से तो दोनों नयों का ग्रहण करना नहीं कहा है।'[१]

यदि जिनागम में दोनों नयों का एक-सा ही उपादेय कहना अभीष्ट होता तो फिर व्यवहारनय को अभूतार्थ कहने की क्या आवश्यकता थी? उसे अभूतार्थ कहने का प्रयोजन ही सावधान करना कहा है। [क्रमशः]

---

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २५१

विलसति ज्ञानम्

परमपूज्य आचार्य कुन्दकुन्द के सर्वोत्तम ग्रंथराज समयसार की अमृतचंद्र आचार्यकृत आत्मख्याति टीका में अनेक छंद आये हैं, जिन्हें कलश कहते हैं। यहाँ तेतीसवें कलश पर हुए पूज्य श्री कानजीस्वामी के प्रवचनों का सार दिया जा रहा है।

जीवाजीवविवेकपुष्कलदृशा प्रत्याययत्पार्षदान्,
आसंसारनिबद्धबंधनविधिश्वंसाद्विशुद्धं स्फुटत्।
आत्माराममनंतधाम महसाध्यक्षेण नित्योदितं,
धीरोदात्तमनाकुलं विलसति ज्ञानं मनो ह्लादयत्॥३३॥

धीर, उदात्त और अनाकुल ज्ञान मन को आनंदित करता हुआ प्रगट होता है। जो जीव-अजीव के स्वांग को देखनेवाले महापुरुषों को जीव-अजीव का भेद देखनेवाली अति उज्ज्वल निर्दोष दृष्टि के द्वारा भिन्न द्रव्य की प्रतीति उत्पन्न कराता है; अनादि संसार से दृढ़ बंधे हुए ज्ञानावरणादि कर्मों के नाश से विशुद्ध हुआ है; विकासरूप है; जिसका क्रीड़ावन आत्मा ही है अर्थात् उसमें अनंत ज्ञेयों के आकार झलकते हैं, फिर भी अपने स्वरूप में ही रमण करता है; जिसका प्रकाश अनंत है, और जो प्रत्यक्ष तेज से नित्य उदयरूप है—ऐसा ज्ञान विलास करता है।

इस कलश में आचार्यदेव ने जीवाजीवाधिकार का मंगलाचरण किया है। अड़तीसवीं गाथा तक पूर्वरंग कहा गया। अब उनतालीसवीं गाथा से जीवाजीवाधिकार प्रारंभ होता है, उसके पूर्व मंगलाचरण करते हुए आचार्यदेव सम्यग्ज्ञान की महिमासूचक कलश लिखते हैं।

पुण्य-पाप आदि पराश्रित वृत्तियों का अभाव हो जाना तथा सम्यग्ज्ञान प्रगट होना ही सच्चा मंगल है। जो पवित्रता की प्राप्ति कराये—उसे मंगल कहते हैं। अथवा जो पाप का नाश करे, उसे मंगल कहते हैं। शरीर, मन, वाणी और शुभाशुभभावों में एकत्वबुद्धिरूप अपवित्रता को नष्ट करनेवाला तथा पवित्र आत्मस्वभाव को प्राप्त करानेवाला आत्मभाव ही सच्चा मंगल है। यही मंगल सच्चे सुख की प्राप्ति कराता है।

जीवद्रव्य और अजीवद्रव्य—दोनों एक होकर रंगभूमि में प्रवेश करते हैं। चिदानंदमूर्ति आत्मा और शरीरादिक एक ही वेष धारण करके आते हैं। सम्यग्ज्ञान जीव-अजीव को, उनके लक्षणों द्वारा भिन्न-भिन्न पहचान लेता है। इसलिये मंगलाचरण में आचार्यदेव सम्यग्ज्ञान की महिमा करते हैं।

यहाँ 'सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है'—ऐसा कहकर आचार्यदेव चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि की बात करते हैं। यहाँ गृहस्थदशा में रहनेवाले ज्ञानी की बात है, सप्तम् गुणस्थानवर्ती मुनि की नहीं। गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी रामचंद्रजी, पांडव तथा श्रेणिक आदि ज्ञानी पुरुषों को देह से भिन्न आत्मा की दृढ़ प्रतीति थी। देह और आत्मा में एकत्व की भ्रांति का त्याग करके उनकी दृष्टि स्वरूप में ही स्थिर रहती थी।

संसार अवस्था में जीव-अजीव साथ में नृत्य करते हैं, परंतु सम्यग्दृष्टि भेदज्ञान द्वारा दोनों को भिन्न-भिन्न जानता हुआ अतीन्द्रिय आनंद का अनुभव करता है।

अज्ञानी का ज्ञान भी-अग्नि गर्म है, बर्फ ठंडा है, शक्कर मीठी है, नीबू खट्टा है—इसप्रकार परपदार्थों में परस्पर भिन्नता को जानता है। परंतु आश्चर्य है कि परपदार्थों में परस्पर भेदज्ञान करते हुए भी पर से भिन्न ज्ञानस्वभावी आत्मा को नहीं जानता अर्थात् स्व-पर का भेदज्ञान नहीं करता। वह पर को तो जानता है, परंतु जाननेवाले अपने ज्ञानस्वभाव को नहीं जानता, यह महा अविवेक है। हलुआ-पुड़ी, मेवा-मिष्ठान्न आदि खाने योग्य हैं तथा मिट्टी आदि खानेयोग्य नहीं हैं—इसप्रकार परपदार्थों में भेद तो करता है; किंतु मैं रागादि मलिनभावरूप नहीं हूँ, मैं तो रागादिरहित पवित्र ज्ञानानंदस्वभावी आत्मा हूँ—इसप्रकार अपने और विकार के बीच भेद को नहीं जानता, यह घोर कलंक की बात है।

सम्यग्ज्ञान मन को आनंद देता हुआ प्रगट होता है तथा मिथ्याज्ञान खेदखिन्न करता हुआ—आकुलता उत्पन्न करता हुआ प्रगट होता है। इसलिये आचार्यदेव सम्यग्ज्ञान की महिमा करते हैं।

जो स्वयं को मन-वचन-काय और शुभाशुभभावों से भिन्न अनुभव करता है, वह महापुरुष है। महापुरुष सम्यग्ज्ञान द्वारा अति उज्ज्वल निर्दोष दृष्टि से देह और आत्मा की भिन्न-भिन्न प्रतीति करते हैं। पदार्थों को यथावत् जाननेवाला ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है। शरीरादि परपदार्थ, पापादि विकारीभाव तथा इनमें एकत्वबुद्धि यह सब कर्मकृत वेष हैं, आत्मा का यथार्थ स्वरूप

नहीं। आत्मा इन सब वेषों से भिन्न अतीन्द्रियज्ञानज्योतिरूप है—इसप्रकार सम्यग्ज्ञान सभी पदार्थों को यथार्थरूप से जानता है।

अज्ञान के कारण पराधीनता में सुख भासित होता है, परंतु सुख तो आत्मा का स्वभाव है, अतः वह स्वाधीनता में ही प्रगट हो सकता है। दूसरों की नौकरी करना मात्र ही पराधीनता नहीं है, स्त्री-पुत्र-धन-यश आदि में सुखबुद्धि ही पराधीनता है। सुखस्वभावी आत्मा पर में सुख की खोज करे यही पराधीनता है। जब तक परपदार्थों पर दृष्टि रहेगी तब तक पराधीनता दूर नहीं हो सकती।

सम्यग्ज्ञान होने पर स्त्री-पुत्रादि में सुखबुद्धि छूट जाती है और आत्मा अनंत सुखरूप अनुभव में आता है। आत्मा अनंत ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य आदि अनंत गुणों का अखंड पिंड है—ऐसा अनुभव में आना ही स्वाधीन वृत्ति का उदय है। ज्ञानी सम्यग्ज्ञान द्वारा अपने को ज्ञानानंदस्वरूप अनुभव करते हुए निरंतर अतीन्द्रिय आनंद का वेदन करते हैं। इसलिये 'सम्यग्ज्ञान मन को आनंदित करता हुआ प्रगट होता है'—ऐसा कहकर आचार्यदेव ने सम्यग्ज्ञान की महिमा की है।

जिसप्रकार घर में विवाहादि का प्रसंग होता है, तब किराये से मंडप आदि अनेक वस्तुएँ लाकर घर सजाते हैं, परंतु उन वस्तुओं को कोई अपनी नहीं मानता; इसीप्रकार ज्ञानी शरीरादि पदार्थों को कर्मकृत मंडप जानते हैं, उन्हें अपनी वस्तु नहीं जानते, अपितु पुद्गल का वेष जानते हैं।

लौकिक नाटकों में अनेक व्यक्ति भर्तृहरि, हरिश्चंद्र, राम-लक्षण आदि का वेष धारण करके अत्यंत सुंदर अभिनय करते हैं, परंतु वे समझते हैं कि हम तो सामान्य वेतनभोगी व्यक्ति हैं, हम रामचंद्र आदि नहीं हैं। उसीप्रकार ज्ञानी भी अपने को चैतन्यमूर्तिरूप अनुभव करते हैं तथा शरीरादि परपदार्थों को मात्र बाह्य वेषरूप ही जानते हैं।

धर्मात्मा को अति उज्ज्वल पवित्र दृष्टि से पर से भिन्न आत्मद्रव्य की प्रतीति उत्पन्न हुई है, स्व-पर का विवेक जागृत हुआ है। अतः देह और रागादि में एकत्वबुद्धि और सुख-बुद्धिरूप पराश्रित वृत्ति का अभाव हो गया है। यद्यपि पुरुषार्थ की कमजोरी से कभी-कभी अल्प राग-द्वेष भी होते हैं, तथापि उनसे भिन्न आत्मा का विवेक निरंतर बना रहता है। उनकी दृष्टि में राग का आदर नहीं-उपेक्षा वर्तती है।

जैसे—मकान में काँच का बहुत ही सुंदर झूमर लटक रहा हो, उससे घर की शोभा हो, परंतु उसके टूट जाने पर उसके प्रति राग मिट जाता है और उसकी उपेक्षा हो जाती है कि यह वस्तु मेरे काम की नहीं है, इसलिये अब इन काँच के टुकड़ों को बाहर फेंक दो—ऐसी तुच्छता भासित होने लगती है। यद्यपि अभी वह टूटा हुआ काँच घर में ही पड़ा है, तथापि अभिप्राय में उन टुकड़ों के प्रति उपेक्षा हो गयी है। काँच के टुकड़े घर में पड़े हैं, इसका यह अर्थ नहीं है कि उन्हें घर में रखने का भाव है।

उसीप्रकार अज्ञान अवस्था में जीव देह और राग से अपने को बड़ा मानता था, परंतु भेदज्ञानज्योति प्रगट होने से अब देह और राग के प्रति उपेक्षाबुद्धि हो गयी है। यद्यपि अभी देह का संयोग है, परिणति में रागादि विकार भी हैं; परंतु अतीन्द्रिय आनंदस्वरूप शुद्धात्मा का अनुभव होने से अब संयोग और विकार के प्रति आदरभाव नहीं है, उनकी अत्यंत उपेक्षा वर्तती है।

ज्ञानी को शुभाशुभभाव और उनका फल झूमर के टुकड़ों के समान तुच्छ भासित होता है। शुभाशुभभावों का पूर्ण अभाव करने में कुछ विलंब हो जाता है—इसका यह अर्थ नहीं है कि वे अच्छे लगते हैं या उन्हें रखने का भाव है। देहादि से भेदज्ञान होने पर अल्प काल में मुक्ति हुए बिना नहीं रहती—यह भेदज्ञान का माहात्म्य है।

सम्यग्ज्ञान अनादि काल से दृढ़तापूर्वक बँधे हुए ज्ञानावरणादि कर्मों का नाश होने से विशुद्ध हो गया है, स्फुट हो गया है। ज्ञानावरणादि का नाश अर्थात् मैं ज्ञानावरणादि जड़कर्मरूप नहीं हूँ—इसप्रकार उनसे भिन्नत्व का विवेक किया जिससे श्रद्धा और ज्ञान में कर्म का नाश हुआ तथा स्वरूप में स्थिरतारूप चारित्र द्वारा कर्मों का संपूर्ण नाश करेगा।

अज्ञानदशा में ज्ञान अपने को कर्मरूप ही अनुभव करता था, तब वह संपुटित—बंद रहता था, ज्ञान की कलियाँ सकुंचित थीं। अब भेदविज्ञान होने से ज्ञान की कलियाँ विकसित होकर खिल उठी हैं। शरीरादि और पुण्य-पाप को अपना मानने के कारण ज्ञान संकुचित था, किंतु इनसे भेदज्ञान होने से ज्ञान विकसित हो गया।

चाहे चक्रवर्ती का राज्य मिले या तीर्थंकर पद प्राप्त हो, किंतु यह सब कर्मकृत है, मेरा चिदानंदस्वरूप तो पर से भिन्न ही है-इसप्रकार विवेक जागृत होते ही ज्ञान अपने में रमण करने लगता है, तथा उसकी कलियाँ खिल जाती हैं।

'पद्मनंदि पंचविंशतिका' के दान अधिकार में आचार्यदेव कहते हैं कि लोभ के कुए में पड़े हुए जीवों के उद्धार के लिये यह दान अधिकार है। दान के उपदेश की गुंजार सुनकर वनस्पति की कली समान स्वभाववाले जीव खिल उठेंगे तथा पत्थर की कली समान स्वभाववाले जीव नहीं खिलेंगे। इसीप्रकार भेदज्ञान की गुंजार सुनकर पात्र जीव खिल उठेंगे तथा पत्थर के समान कठोरवृत्तिवाले जीव नहीं खिलेंगे। चैतन्यशक्ति का अवलंबन लेने से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की कलियाँ खिलती हैं।

सम्यग्ज्ञान का क्रीड़ावन आत्मा ही है। यद्यपि ज्ञान में अनंत ज्ञेयों के आकार झलकते हैं, तथापि वह अपने स्वरूप में ही रमण करता है, परज्ञेयों में रमण नहीं करता। अज्ञानदशा में ज्ञान शरीरादि परपदार्थों में तथा पुण्य-पाप भावों में रमण करता था, किंतु विवेक जागृत होने पर पराश्रित बुद्धि छूट गयी और ज्ञान का रमणीय-स्थल मात्र आत्मा ही रह गया, अन्य कोई स्थान नहीं रहा। मेरा स्वभाव निर्दोष और निरूपाधिक है, मेरे गुण की पर्याय मुझमें ही रहती है—ऐसा विवेक होने पर ज्ञान का क्रीड़ा-स्थल आत्मा ही रह जाता है।

स्व-पर प्रकाशक स्वभाव के कारण ज्ञान में परपदार्थ ज्ञात होते हैं, परंतु परज्ञेय ज्ञान में प्रविष्ट नहीं हो जाते। ज्ञान अपने को ज्ञेयरूप अनुभव नहीं करता, अतः उसका क्रीड़ा-स्थल आत्मा ही है।

ज्ञान का प्रकाश अनंत है, इसलिये ज्ञान में अनंत ज्ञेय ज्ञात होने पर भी ज्ञान जानने से नहीं थकता। अनादि से जीव ने अनंत भव धारण किये, परंतु प्रत्येक भव में परपदार्थों को अपना मानकर अटका रहा, अतः उसका अनंत प्रकाश प्रगट नहीं हुआ। पर से भिन्न अपने ज्ञानस्वभाव का विवेक होने पर ज्ञान की अनंत सामर्थ्य का भान हुआ कि मुझमें अनंत पदार्थों की भूत-भविष्य-वर्तमानवर्ती अनंत पर्यायों को जानने की सामर्थ्य है।—ऐसी सामर्थ्य का भान होने पर अल्प काल में ही पर्याय में ऐसी सामर्थ्य खिल उठती है।

सम्यग्ज्ञान इंद्रिय और मन के आधीन नहीं है, अपितु स्वयं स्वतः जानता है। इसलिये चैतन्यतेज प्रत्यक्ष है। अपूर्ण अवस्था में इंद्रिय और मन का निमित्त होता है, किंतु ज्ञान जानता तो अपनी योग्यता से ही है।

सम्यग्ज्ञान अपने प्रत्यक्षतेज से नित्यउदयरूप है। सूर्य तो प्रातः उदित होता है और शाम को अस्त हो जाता है, किंतु ज्ञानसूर्य तो नित्य प्रत्यक्ष उदितरूप ही रहता है। सम्यग्ज्ञान का उदय

हुआ सो हुआ, अब वह कभी अस्त नहीं होगा। इसप्रकार आचार्यदेव ने नित्यप्रत्यक्षउदयरूप सम्यग्ज्ञान का मंगलाचरण किया है।

सम्यग्ज्ञान धीर है, स्वपर को जानता है; अपने भावों को तथा पर के भावों को जानता है; अनुकूलता-प्रतिकूलता, निंदा-प्रशंसा इत्यादि सब-कुछ जानता है। ज्ञान ऐसा विचक्षण है कि वह पदार्थ को संपूर्णरूप से जानता हुआ भी राग-द्वेष नहीं करता, अपितु अपने में ही समाया रहता है। सच्चाज्ञान भीतर समाता है तथा अज्ञान बाहर फैलता है। अज्ञान से विकार होता है और विकार से पुण्य-पाप फलित होते हैं। सम्यग्ज्ञान पराश्रय से हटकर स्वाश्रित होते हुए भीतर ही समा जाता है, इसलिये धीर है।

ज्ञान उदात्त है, उच्च है अर्थात् उदार है। पर्याय में चाहे जितना ज्ञान प्रगट हो जाये, परंतु ज्ञानशक्ति कभी क्षीण नहीं होती। ज्ञान अनाकुल है। सम्यग्ज्ञान प्रगट होने पर निराकुल शांति प्रगट हुए बिना नहीं रहती।

इसप्रकार धीर, उदात्त और अनाकुल ज्ञान मन को आनंदित करता हुआ विलसित होता है।

जीव-अजीव का ज्ञान होने पर अज्ञान नष्ट हो जाता है। जिसप्रकार कोई बहुरूपिया विविध स्वाँग बनाकर आता है—यदि कोई उसे यथार्थ जान लेता है तो वह उसे नमस्कार करके अपना यथार्थ स्वरूप प्रगट कर देता है। इसीप्रकार ज्ञानी कर्म के विविध स्वरूप को जान लेता है, इसलिये कर्म अपना स्वरूप स्पष्ट प्रगट कर देते हैं। अज्ञानी स्व-पर की भिन्नता को यथार्थ नहीं जानता, सम्यग्ज्ञानी को स्व-पर की भिन्नता का यथार्थ ज्ञान होता है।

पंच महाव्रत

परमपूज्य दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्द के प्रसिद्ध परमागम 'नियमसार' की ५७ से ६०वीं गाथा एवं उसमें समागत श्लोकों पर हुए पूज्य श्री कानजीस्वामी के प्रवचनों का संक्षिप्त सार यहाँ दिया जा रहा है। मूल गाथाएँ इसप्रकार हैं:—

रागेण व दोसेण व मोहेण व मोसंभासपरिणामं।
जो पजहदि साहु सया विदियवदं होइ तस्सेव॥५७॥
गामे व णयरे वाऽरण्णे वा पेच्छिऊण परमत्थं।
जो मुयदि गहणभावं तिदियवदं होदि तस्सेव॥५८॥
दट्ठूण इत्थिरूवं वांछाभावं णियत्तदे तासु।
मेहुणसण्णविवज्जियपरिणामो अहव तुरीयवदं॥५९॥
सव्वेसिं गंथाणं चागो णिरवेक्खभावणापुव्वं।
पंचमवदमिदि भणिदं चारित्तभरं वहंतस्स॥६०॥

राग से, द्वेष से अथवा मोह से होनेवाले मृषा भाषा के परिणाम को जो साधु छोड़ता है, उसी को सदा दूसरा व्रत है।

ग्राम में, नगर में या वन में परायी वस्तु को देखकर जो (साधु) उसे ग्रहण करने के भाव को छोड़ता है, उसी को तीसरा व्रत है।

स्त्रियों का रूप देखकर उनके प्रति वांछाभाव की निवृत्ति वह अथवा मैथुनसंज्ञारहित जो परिणाम वह चौथा व्रत है।

निरपेक्षभावनापूर्वक सर्व परिग्रहों का त्याग उस, चारित्रभार वहन करनेवाले को पाँचवाँ व्रत कहा है।

राग से, द्वेष से अथवा मोह से होनेवाले मृषाभाषा के परिणाम को जो साधु छोड़ता है, उसी को सदा दूसरा व्रत है।

असत्य के परिणाम होते ही नहीं, इस अपेक्षा से उन्हें छोड़ा-ऐसा कहा जाता है। परंतु वे

असत्य के परिणाम होते हैं और उन्हें छोड़ते हैं—ऐसी बात नहीं है। स्वभाव के आश्रय से वीतरागता होने पर असत्य का विकल्प ही नहीं उठता, उसे असत्य का त्याग कहते हैं। मुनि के छठे गुणस्थान में असत्य के अशुभ परिणाम होते ही नहीं, उन्हें तो स्वभाव के अवलंबन से वीतरागता है। सम्यग्दर्शन होने के साथ ही निर्विकल्प आनंदघन द्रव्यस्वभाव का ही अवलंबन होता है। चौथे गुणस्थान से लगाकर अंत तक कारणपरमात्मा त्रिकाल ज्ञायकमूर्ति का ही अवलंबन होता है, उसके अवलंबन बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता। उस द्रव्यस्वभाव का विशेष अवलंबन लेने पर मुनिदशा प्रकट होती है, उस भूमिका में स्वभाव का ऐसा तीव्र अवलंबन वर्तता है कि असत्य के परिणाम जैसा तीव्र राग नहीं होता।

यहाँ ऐसा कहा है कि सत्य का प्रतिपक्ष अर्थात् सत्य से विरुद्ध परिणाम वह मृषा-परिणाम है। वह असत्यभाषण का परिणाम राग से, द्वेष से अथवा मोह से होता है। जो साधु-आसन्नभव्य जीव उस परिणाम को छोड़ता है (समस्त प्रकार से छोड़ता है) उसको दूसरा व्रत होता है।

अज्ञानी को स्वरूप की अनुपलब्धि के कारण मिथ्या परिणाम होते हैं अथवा राग-द्वेष के कारण असत्य के परिणाम होते हैं, किंतु मुनि के तो स्वभाव के आश्रय से राग-द्वेष-मोह के अभाव होने से असत्य के परिणाम होते ही नहीं, इसलिये उन्होंने असत्य परिणाम छोड़े—ऐसा कहा जाता है। ऐसे मुनि को द्वितीय सत्य व्रत होता है। मुनि के स्वभावावलंबन होने के कारण पर्याय की भी ऐसी योग्यता है-सीमा है कि उसमें तीव्र राग होता ही नहीं।

अब ५७वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं।

वक्ति व्यक्तं सत्यमुच्चैर्जनो यः
स्वर्गस्त्रीणां भूरिभोगैकभाक् स्यात्।
अस्मिन् पूज्यः सर्वदा सर्वसद्भिः,
सत्यात्सत्यं चान्यदस्ति व्रतं किम्॥७७॥

जो पुरुष अति स्पष्टरूप से सत्य बोलता है, वह स्वर्ग की स्त्रियों के अनेक भोगों का एकभागी होता है (अर्थात् वह परलोक में अनन्यरूप से देवांगनाओं के बहुत से भोग प्राप्त करता है) और इस लोक में सर्वदा सर्व सत्पुरुषों का पूज्य बनता है। वास्तव में क्या सत्य से अन्य कोई (बढ़कर) व्रत है?

स्वभाव के अवलंबनपूर्वक वीतरागभाव ऐसा है कि असत्य के भाव ही नहीं होने देता। शुभराग के समय सत्य के परिणाम हों वे भी पुण्यबंध के कारण हैं-धर्म नहीं; अतः उस पुण्य के फल में स्वर्ग के भोग मिलेंगे। व्यवहारसत्यव्रत के परिणाम से स्वर्ग के भोग तो प्राप्त होंगे, किंतु उससे स्वभाव नहीं मिलेगा। स्वभाव के अवलंबन से जितनी वीतरागता प्रकटी वही धर्म है।

व्यवहारसत्यव्रत किसको होता है ?

परमार्थ से तो स्वभाव त्रिकालध्रुव, रागद्वेष रहित है—वही परमसत् है; ऐसे स्वभाव के आश्रय से जिसने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परमार्थसत्य प्रकट किया है, उसी के शुभराग को व्यवहारसत्यव्रत कहते हैं।

अब तीसरे अचौर्यव्रत का स्वरूप कहते हैं।

यहाँ बाहरी पदार्थ की क्रिया की बात नहीं है, किंतु परिणाम की बात है। मुनि को परायी वस्तु को देखकर उसके ग्रहण करने के परिणाम ही नहीं होते। स्वभाव के आश्रय से शुद्धपरिणति प्रकटी है और कुछ राग भी होता है, वहाँ भी परवस्तु को ग्रहण करने के परिणाम नहीं होते—ऐसी मुनि की दशा होती है।

जिसके चौरतफ बाड़ हो वह ग्राम है; जो चार द्वारों से सुशोभित हो वह नगर है; जो मनुष्य के संचार रहित वनस्पतिसमूह, बेलों और वृक्षों के झुंड आदि से खचाखच भरा हो वह अरण्य है। ऐसे ग्राम, नगर या अरण्य में अन्य से छोड़ी हुई, गिरी हुई अथवा भूली हुई परवस्तु को देखकर उसके स्वीकार परिणाम का (अर्थात् उसे अपनी बनाने-ग्रहण करने के परिणाम का) जो परित्याग करता है, उसे वास्तव में तीसरा व्रत होता है।

वस्तु देखकर उसको लेने के परिणाम हुए और बाद में छोड़े—ऐसी बात नहीं है। यदि लेने के परिणाम हो गये तब तो वह अचौर्यव्रत नहीं रहा। मुनि के तो ऐसे परिणाम होते ही नहीं, अतः उसका नाम अचौर्यव्रत है।

अब ५८वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं।

आकर्षति रत्नानां संचयमुच्चैरचौर्य्यमेतदिह।
स्वर्गस्त्रीसुखमूलं क्रमेण मुक्त्यंगनायाश्च ॥७८॥

यह उग्र अचौर्य इस लोक में रत्नों के संचय को आकर्षित करता है और (परलोक में) स्वर्ग की स्त्रियों के सुख का कारण है तथा क्रम से मुक्तिरूपी स्त्री के सुख का कारण है।

स्वभाव का अवलंबन है और अशुभ परिणाम आने नहीं दिये तब शुभभाव से पुण्य बँधकर बाहर के रत्नों का खजाना मिलता है; परंतु उस शुभ से कहीं अंतर के चैतन्यरत्न की प्राप्ति नहीं होती। चैतन्यरत्न की प्राप्ति तो स्वभाव के ही अवलंबन से होती है। व्यवहारव्रत तो शुभ राग है—संयोगी भाव है, उसके फल में बाह्य संयोग मिलता है। व्यवहारव्रत को परंपरा से क्रम से मुक्ति का कारण कहा, वहाँ व्यवहारव्रत में जो शुभराग है, उसका फल तो स्वर्ग ही है; परंतु उसी समय साथ में स्वभाव के अवलंबन से जो वीतरागी भाव प्रकट हुआ है, वह क्रम से मुक्ति कारण होता है, इसलिये उसके साथ होनेवाले शुभराग को भी उपचार से मुक्ति का परंपरा कारण कहा है। निश्चय के अवलंबन की दृष्टि पड़ी है, इसलिये व्यवहार को उपचार से कारण कहा जाता है। निश्चयस्वभाव का आश्रय लिया वह तो मुक्ति का कारण है और शुभराग रहा वह व्यवहार है और बंधन का कारण है। स्वभाव के अवलंबन से राग को तोड़ देने पर ही मुक्ति प्राप्ति होगी।

अब चौथे ब्रह्मचर्यमहाव्रत का स्वरूप कहते हैं।

मुनि तो अंतर में चैतन्य का रूप देखनेवाले हैं। सम्यग्दृष्टि भी अंतर में चैतन्य का रूप देखता ही है। मुनि के विशेषतया स्वभाव का अवलंबन है अर्थात ? उनके स्त्री आदि के देखने में आसक्ति के परिणाम भी नहीं होते। चैतन्य के अवलंबन से वीतरागी अकषायदशा अवस्थित है अर्थात् स्त्री आदि के रूप को देखकर उनके वांछा अथवा कौतूहल के परिणाम नहीं होते—इसका नाम ब्रह्मचर्यरूप है।

सुंदर कामिनियों के मनोहर अंगों के निरीक्षण द्वारा उत्पन्न हुए कौतूहल के-चित्तवांछा के परित्याग से, अथवा पुरुषवेदोदय नामक नोकषाय के तीव्रोदय के कारण उत्पन्न होनेवाली मैथुनसंज्ञा के परित्यागस्वरूप शुभ परिणाम से ब्रह्मचर्यव्रत होता है।

एक समय भी अंतरस्वभाव का अवलंबन टूटता नहीं, वहाँ छठे गुणस्थान में शुभराग होने पर व्यवहारब्रह्मचर्य की वृत्ति उठती है। निश्चय से तो स्वभाव के आश्रय से रागरहित वीतरागभाव प्रकट हुआ है, वही ब्रह्मचर्यधर्म है। शुभरागरूप ब्रह्मचर्य वह व्यवहारव्रत है।

अब ५९वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं।

भवति तनुविभूतिः कामिनीनां विभूतिं,
स्मरसि मनसि कामिंस्त्वं तदा मद्वचः किम्।

सहजपरमतत्त्वं स्वस्वरूपं विहाय,
व्रजसि विपुमोहं हेतुना केन चित्रम्॥७९॥

हे कामी पुरुष! यदि तू मन में कामिनियों की शरीरविभूति का स्मरण करता है, तो मेरे वचन से तुझे क्या लाभ होगा? अहो! आश्चर्य होता है कि सहज परमतत्त्व को—निजस्वरूप को—छोड़कर तू किस कारण विपुल मोह को प्राप्त हो रहा है।

अहो! वीतरागी चैतन्यमूर्ति आत्मा को छोड़कर तुझे यह बाहर में स्त्री के रूप का मोह क्यों होता है? अंतर में निजकारण भगवान ज्ञायकपरमात्मा विराजता है, उसे छोड़कर तू बाहर के रूप में क्यों विपुल मोह को प्राप्त होता है? अंतर की चैतन्यविभूति के आनंद को छोड़कर तुझे बाहर की स्त्री की शारीरिक विभूति देखकर मोह क्यों होता है?—यह आश्चर्य है।

मुनि के तो ऐसी वृत्ति होती नहीं, तथापि जागृति के लिये उपदेश है।

अब पाँचवाँ अपरिग्रहमहाव्रत कहा जाता है।

देखे! आचार्यभगवान ने स्वयं कहा कि 'णिरवेखभावनापुव्वं' निरपेक्ष भावना सहित यह व्रत होता है। मुनि को मुनित्वोचित निरपेक्ष शुद्धपरिणति के साथ वर्तता जो (हठरहित) सर्वपरिग्रहत्याग संबंधी शुभोपयोग वह व्यवहार अपरिग्रहव्रत कहा जाता है। शुद्धपरिणति न हो वहाँ शुभोपयोग हठसहित होता है; वह शुभोपयोग तो व्यवहारव्रत भी नहीं कहा जाता। (इस पंचमव्रत की तरह अन्य व्रतों को भी समझ लेना)।

सम्यग्दर्शन रहित शुभपरिणाम तो व्यवहारव्रत भी नहीं है। निश्चयव्रत प्रकट हुआ हो वही व्यवहार होता है। जिसको अभी आत्मा का भान ही नहीं उसको तो श्रावक या मुनिदशा हो ही कहाँ सकती है अर्थात् उसके तो व्रत-तप कुछ भी नहीं होते।

सम्यग्दर्शन के बिना शुभराग करे वह तो बालव्रत-बालतप है; बालव्रत अर्थात् अज्ञानी का व्रत, अर्थात् वास्तविक सच्चाव्रत नहीं। शुभराग को जो धर्म मानता है, उसे निरपेक्ष आत्मा की भावना नहीं होती। जिसको रागरहित शुद्धकारणपरमात्मा का भान होता है, उसे ही निरपेक्ष भावना होती है और उसे ही निश्चयव्यवहारव्रत होता है।

मेरे द्वारा पर का अथवा निमित्त से मेरा कार्य होगा, राग से मुझे लाभ होगा—ऐसी जिसकी मान्यता है, उसको निरपेक्षभाव नहीं होता। निरपेक्षभावना तो ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से ही होती है। ऐसा आश्रय प्रकट होना ही जैनधर्म है। उस आश्रय में कमी रह जाने पर जो

शुभराग शेष रहता है, उसे व्यवहारव्रत है। सम्यग्दर्शन क्या है ? इसका भी जीवों को भान नहीं है। अंतर में ज्ञायकमूर्ति आत्मा के अवलंबन से ही सम्यग्दर्शन है और उसी के अवलंबन से धर्म है।

निरपेक्षभावना अर्थात् द्रव्यस्वभाव का आश्रय चौथे गुणस्थान में द्रव्यदृष्टि होने पर निरपेक्षदृष्टि प्रकट हुई है, परंतु अभी स्वभाव का विशेष अवलंबन नहीं है। विशेष अवलंबन लेने पर मुनिदशा प्रकट होती है। तब निरपेक्षभावनापूर्वक परिग्रहत्याग का जो शुभराग है, वह व्यवहार अपरिग्रहव्रत है।

पाँचवें अपरिग्रहव्रत की बात चल रही है। यह व्रत किसको होता है ? जिसको छठे-सातवें गुणस्थान में झूलती मुनिदशा होती है। परमाणु मात्र का भी आत्मा कर्ता नहीं, राग की कणिका भी मेरा स्वरूप नहीं—ऐसा जिसको भान है, उसको ही निरपेक्षभावना होती है और वहीं महाव्रत हो सकते हैं। निरपेक्षदृष्टि तो चौथे गुणस्थान में ही सम्यग्दृष्टि को हो जाती है, परंतु मुनियोग्य शुद्धपरिणति उसके नहीं है। मुनि के तो मुनि के योग्य शुद्धपरिणति प्रकट हो गई है, किंतु छठे गुणस्थान में शुद्धउपयोग नहीं है। त्यागसंबंधी अल्प शुभविकल्प है उसके पीछे जितनी वीतरागी परिणति पड़ी है, उतनी शुद्धपरिणति है, किंतु शुद्ध उपयोग नहीं है। शुद्धोपयोग तो निर्विकल्पदशा में सातवें में होगा, छठे में तो शुभराग है।

शुद्धपरिणति तो चौथे गुणस्थान से ही सम्यग्दृष्टि के प्रारंभ हो गई है। अखंडकारण परमात्मा शुद्धचिदानंद आत्मा के अवलंबन द्वारा जो श्रद्धा-ज्ञान की निर्मलदशा प्रकटी वह शुद्धपरिणति है, और मुनि के तो वह शुद्धपरिणति विशेष बढ़ गई है। चौथे की अपेक्षा पाँचवें, छठे में वीतरागी परिणति बढ़ती जाती है। मुनिराज को तो विशेष निरपेक्षपरिणति प्रकट हो गई है; वहाँ सहजपने-हठ बिना जो परिग्रहत्याग का शुभ उपयोग है, वह व्यवहार से अपरिग्रह है। मिथ्यादृष्टि का शुभभाव तो व्यवहार से भी व्रत नहीं, क्योंकि शुद्धपरिणति के बिना होनेवाला शुभभाव तो हठवाला है। कारणपरमात्मा का भान करने पर ही कल्याण है, शेष सब कुछ करना तो इकाईरहित शून्यांकन करना ही है। जिसे कारणपरमात्मा का भान है और उसमें लीनता से विशेष निरपेक्षता प्रकटी है, उसे आत्मा के अवलंबन से जितनी वीतरागता है, उतना निश्चयचारित्र है और जितना शुभराग है, वह व्यवहारचारित्र है।

शुद्धपरिणति और शुद्धउपयोग भिन्न-भिन्न दशायें हैं। शुद्धपरिणति तो चौथे गुणस्थान से

प्रारंभ हो जाती है और शुद्धउपयोग मुख्यपने मुनिदशा में सातवें गुणस्थान से होता है, इसलिये शुद्धउपयोग को सातवें से गिना है। चौथे-पाँचवें में भी जब ज्ञानी आत्मा के अनुभव में एकाग्र होता है, तब उसको भी शुद्धोपयोग होता है, किंतु होता है, बहुत अल्प। चौथे गुणस्थान से शुद्धपरिणति का प्रारंभ हो जाता है। श्रावक के पाँचवें गुणस्थान से स्वभाव का आश्रय लेने पर जितनी वीतरागी परिणति हुई है, उतना निश्चयव्रत है और त्याग वगैरह का शुभभाव व्यवहारव्रत है; इसीप्रकार मुनि के महाव्रत में भी समझना।

सकल परिग्रह के परित्यागस्वरूप निजकारणपरमात्मा के स्वरूप में अवस्थित (स्थिर हुए) परमसंयमियों को—परमजिनयोगीश्वरों को—सदैव निश्चयव्यवहारात्मक सुंदर चारित्र भर वहन करनेवालों को, बाह्य-अभ्यंतर चौबीस प्रकार के परिग्रह का परित्याग ही परंपरा से पंचमगति के हेतुभूत पंचम व्रत है।

निजकारणपरमात्मा तो त्रिकाल परिग्रह के त्यागस्वरूप ही है। त्रिकालकारणशुद्धजीव ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का कारण है। कारणशुद्धजीव-निजकारणपरमात्मा-सामान्य-शक्तिरूपस्वभाव—तो त्रिकाल समस्त परिग्रह के त्यागस्वरूप ही है, उसकी श्रद्धा-ज्ञान करके उसमें स्थिर हुए परमसंयमी मुनि को ही यह महाव्रत होता है।

आत्मस्वभाव के अवलंबन से रागरहित परिणति प्रकट हुई वह निश्चयव्रत और जो महाव्रत का शुभविकल्प वह व्यवहार से व्रत है। मुनि के शरीर की दशा सहज नग्न हो जाती है, शरीर की दशा का कर्ता आत्मा नहीं है। आत्मा परवस्तु के परिग्रह को छोड़े या ग्रहण करे—ऐसा माने वह तो मिथ्यादृष्टि है, उसको व्रत नहीं होते। आत्मा तो त्रिकाल परवस्तु के परिग्रह से रहित ही है। ऐसे आत्मा की दृष्टि और एकाग्रतापूर्वक ही निश्चयव्यवहारव्रत होते हैं।

त्रिकालीकारणपरमात्मा तो सदा परिग्रहरहित ही है, अर्थात् 'परिग्रह छोड़ूँ' यह बात भी उसमें नहीं है। तीन काल में पुण्य-पाप या शरीरादि का परिग्रह ही भगवान आत्मा में नहीं है, वह तो त्रिकाल उनके त्यागस्वरूप ही है। ऐसा आत्मा वह कारणपरमात्मा है। चारित्र का कारण कौन? त्रिकाल परिग्रह के त्यागस्वरूप यह कारणपरमात्मा ही दर्शन-ज्ञान-चारित्र का कारण है, उसी के आश्रय से रत्नत्रय प्रकट होता है।

कारणशुद्धपरमात्मा तो त्रिकाल है और उसमें अवस्थित होनेवाली दशा नई प्रगट होती

है। जिसको ऐसे कारणपरमात्मा में स्थिरता प्रकट हुई है, वह परम संयमी मुनि है; उसी परमजिनयोगीश्वर को निश्चय-व्यवहारचारित्र होता है। स्वभाव के अवलंबन से वीतरागता हुई उतना निश्चयचारित्र है, उसके साथ अट्ठाईस मूलगुण आदि का जो विकल्प वर्तता है, वह व्यवहारचारित्र है। जिसके बाह्य-अभ्यंतर समस्त परिग्रह का त्याग होता है, उसी का नाम अपरिग्रहव्रतधारी है।

मुनि के शरीर की नग्नदशा सहज होती है, परंतु अंतर में स्वभाव के अवलंबन से निश्चयचारित्र प्रकट हुआ हो तो नग्नशरीर को चारित्र का निमित्त कहा जाता है। अंदर शुद्धचारित्र प्रकट हुए बिना नग्नशरीर हो तो वह तो चारित्र का निमित्त भी नहीं है। बाह्य से वस्त्र, पैसा, पात्रादि परिग्रह का त्याग हो, ऐसे मुनि को ही पाँचवाँ अपरिग्रहव्रत होता है, वह पंचम गति का कारण है। चौबीस प्रकार के परिग्रहत्याग का शुभविकल्प तो व्यवहारव्रत है; चूँकि उसके साथ शुद्धपरिणति है, इसलिये उस व्यवहारव्रत को उपचार से मोक्ष का परंपराकारण कहा है।

शुभोपयोगरूप व्यवहारव्रत शुद्धोपयोग का हेतु है और शुद्धोपयोग मोक्ष का हेतु है—ऐसा मानकर यहाँ उपचार से व्यवहारव्रत को मोक्ष का परंपराहेतु कहा है। वास्तव में तो शुभोपयोग मुनि के मुनियोग्य शुद्धपरिणति ही (शुद्धात्मद्रव्य का अवलंबन लेती हुई होने से) विशेष शुद्धिरूप शुद्धोपयोग का हेतु होती है और वह शुद्धोपयोग मोक्ष का हेतु होता है। इस तरह शुद्धपरिणति में अवस्थित मोक्ष के परंपराहेतुपने का आरोप उसके साथ रहनेवाले शुभोपयोग में करके व्यवहारव्रत को मोक्ष का परंपराहेतु कहा गया है। जहाँ शुद्धपरिणति ही न हो वहाँ मात्र शुभोपयोग में मोक्ष के परंपराहेतुत्व का आरोप भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि जहाँ मोक्ष का यथार्थ परंपराहेतु प्रकट ही नहीं हुआ—विद्यमान ही नहीं, वहाँ शुभोपयोग में आरोप किसका करना?

शुद्धोपयोग को यहाँ सातवें गुणस्थान में माना है, इसलिये शुद्धोपयोग दशा में वर्तते मुनि के वस्त्र-पात्रादि नहीं होते, वस्त्रादि रखे और मुनिपना माने तो वह निगोदगामी है—ऐसा कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने कहा है, क्योंकि वस्त्रादिधारण करते हुए मुनिपना माननेवाला वीतरागता की विराधना करता है।

शुद्धोपयोग मोक्ष का हेतु है और छठे गुणस्थान में शुभोपयोग है, उसे शुद्धोपयोग का

हेतु कहा गया है। परमार्थ से तो त्रिकाली कारणपरमात्मा के अवलंबन से ही मोक्षदशा प्रकट होती है। छठे गुणस्थान में स्वभाव के अवलंबन से वीतराग परिणति तो वर्तती है, परंतु वहाँ साथ में जो शुभोपयोग वर्त रहा है, उसे परंपरा से मोक्ष का कारण कहा गया है। वास्तव में तो छठे गुणस्थान में जो शुद्धपरिणति प्रकट हुई है, वही विशेष शुद्धि का कारण होती है, इसलिये वही मोक्ष का हेतु होती है, राग कहीं शुद्धता का कारण नहीं होता। हाँ, छठे गुणस्थान में शुद्धपरिणति के साथ जो राग वर्त रहा है, उसे भी आरोप से मोक्ष का परंपराकारण कहा जाता है।

वास्तव में शुद्धनिश्चय से तो अखंड कारणपरमात्मा ही शुद्धोपयोग का कारण है और पर्याय में कारण कहना हो तो छठे गुणस्थान में स्वभाव के आश्रय से जो शुद्धता है, वह मोक्ष का कारण है और उसके साथ का शुभराग वह निमित्तकारण है। निमित्तकारण अर्थात् व्यवहारकारण। शुभोपयोगी मुनि को भी वास्तव में तो शुद्धात्मद्रव्य को अवलंबन करनेवाली परिणति ही विशेष शुद्धता का कारण है, परंतु यह व्यवहारचारित्र का अधिकार चल रहा है, इसलिये उस मुनि के शुभोपयोग को भी शुद्धोपयोग का निमित्त मानकर उपचार से परंपरा मोक्ष का कारण कहा। शुद्धनिश्चयदृष्टि से देखा जाये तो कारणपरमात्मा ही मोक्ष का शुद्ध उपादान है और वीतरागीदशा निमित्तकारण है। पर्याय अपेक्षा से देखें तो वीतरागी परिणति मोक्ष का निश्चयकारण है और तब शुभोपयोग निमित्तकारण है। छठे गुणस्थान में शुभोपयोग है, किंतु स्वभाव के अवलंबन से वह शुभोपयोग टूटकर शुद्धोपयोग होनेवाला है, इसलिये छठे गुणस्थान के शुभोपयोग को सातवें गुणस्थान के शुद्धोपयोग का निमित्त कहा है।

निमित्त में से, पुण्य में से अथवा पर्याय में से पर्याय नहीं आती। त्रिकाली ध्रुवकारणपरमात्मा में से ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि पर्यायें प्रकट होती हैं, इसलिये निश्चय से वह कारणपरमात्मा ही सब का कारण है और उसी के आश्रय से ही शुद्धोपयोग प्रकट होता है। जब उस शुद्धोपयोग को मोक्ष का कारण कहा तब शुभ को व्यवहार कारण कहा जाता है। परंतु वह व्यवहार हुआ कब ?—उसी समय साथ में ध्रुवकारणपरमात्मा का आश्रय पड़ा है और उसी के आश्रय से निश्चयकारण प्रकट हुआ है और तभी शुभराग को व्यवहारकारण कहा जाता है। व्यवहारव्रत वास्तव में मोक्ष का कारण नहीं है, किंतु उसके साथ की शुद्धपरिणति का उसमें आरोप करके ही उसको मोक्ष का परंपराकारण कहा है, किंतु जिसने द्रव्य का आश्रय

लिया है, उसको वह परंपराकारण है। जिसने द्रव्य का आश्रय लिया ही नहीं, राग से और निमित्त के आश्रय से कल्याण मानता है, उसके तो शुभराग में व्यवहारकारण का आरोप भी नहीं आ सकता। शुद्धपरिणति बिना आरोप किसका? निश्चयकारण हो वहाँ शुभ में आरोप करके व्यवहारकारण कहा जाता है, परंतु निश्चयकारण प्रकट हुए बिना शुभ में आरोप किसका करना? शुद्धकारणपरमात्मा के आश्रय से जो निश्चयकारणरूप शुद्धपरिणति प्रकट हुई, तभी साथ के शुभ में उसका आरोप करके उसे व्यवहारकारण कहा जाता है। वीतरागी परिणति ही मोक्ष का साक्षात् कारण है और उस वीतरागी परिणति का मूलकारण तो त्रिकाली द्रव्य कारणशुद्धपरमात्मा है।

त्रिकाली कारणशुद्धपरमात्मा वह वीतरागी परिणति का कारण है और वह वीतरागी परिणति मोक्ष का कारण है; अर्थात् शुद्ध परिणति का, शुद्धोपयोग का अथवा मोक्ष का साक्षात् मूलकारण तो भगवान कारणपरमात्मा ही है। इसके अतिरिक्त अन्य सभी कारण तो व्यवहार और निमित्त हैं।

अपरिग्रहव्रत के वर्णन में निरपेक्ष भावना की बात रखी है, अर्थात् जिसको वस्त्रादि परिग्रह की अपेक्षा हो उसको निरपेक्षभावना नहीं होती और अपरिग्रहव्रत नहीं होता।

शुद्धपरिणति और शुद्धोपयोग में इतना भेद है कि छठे गुणस्थान में शुद्धपरिणति होने पर भी शुद्धोपयोग नहीं होता, शुद्धोपयोग हो वहाँ तो शुद्धपरिणति होती ही है। छठे में शुद्धोपयोग नहीं होता फिर भी शुद्धपरिणति तो होती है, यदि वह भी न हो तो छठा गुणस्थान टिक ही नहीं सकता। छठे गुणस्थान में स्वभाव के अवलंबन से जितना अकषायभाव है, उतनी तो शुद्धपरिणति है और जितना राग है, उतनी अशुद्धता है, वहाँ अट्ठाईस मूलगुण के विकल्प उठते हैं, उनका वह व्यवहार से कर्ता है, निश्चय से तो उस विकल्प का भी कर्ता नहीं है और बाहर की आहारादि वस्तुओं का तो व्यवहार से भी कर्ता नहीं है क्योंकि वह तो परद्रव्य है; परद्रव्य की क्रिया का कर्ता माननेवाला तो ईश्वर को जगतकर्ता माननेवाले के समान मिथ्यात्वी है, उसके तो शुद्धपरिणति होती ही नहीं अर्थात् उसके शुभराग को व्यवहार से भी नहीं व्रत कह सकते।

जैनदर्शन अर्थात् वस्तुदर्शन। आत्मा पर को ग्रहण करे या त्यागे, यह बात वस्तुस्वभाव में है ही नहीं। मुनि को अंतरस्वभाव में एकाग्रता होने पर समस्त परद्रव्यों के प्रति

निरपेक्षभावना हो गयी है, उस निरपेक्षभावना सहित जो परिग्रहत्याग का विकल्प वह व्यवहार से महाव्रत है। अंतरंग में निरपेक्षभावना बिना अकेले बाहर के त्याग में कोई व्यवहारव्रत मान ले तो उसको व्यवहारव्रत भी नहीं है।

छठे गुणस्थान की एक पर्याय में दो भाग हैं। जितनी चैतन्य के आश्रय से वीतरागता है, उतना शुद्धभाव है और बीच में जो शुभराग है, उतना अशुद्धभाव है। यदि शुद्धता न हो तो मुनिदशा नहीं हो सकती और यदि अशुद्धतारूप रागांश न हो तो परिपूर्ण वीतरागता हो जाये। मुनि को छठे गुणस्थान में एक पर्याय में दो प्रकार एकसाथ वर्तते हैं। शुद्धता है मोक्ष का कारण और अशुद्धता है बंधभाव—शुद्धता के साथ होनेवाले शुभविकल्प को ही व्यवहार से व्रत कहते हैं।

इसीप्रकार समयसारजी की गथा २०८ में कहा है:—

'यदि परद्रव्य परिग्रह मेरा हो तो मैं अजीवपने को प्राप्त हो जाऊँ, मैं तो ज्ञाता ही हूँ, अत:(परद्रव्यरूप) परिग्रह मेरा नहीं है।'

निर्ग्रंथ वीतरागी मुनि ऐसी भावना करते हैं कि कोई भी परद्रव्य मेरा परिग्रह नहीं है। यदि परद्रव्य मेरा परिग्रह हो अर्थात् शरीरादि परद्रव्य की क्रिया मेरे द्वारा होती हो तब तो मैं जड़ हो जाऊँ, क्योंकि जड़ का स्वामी जड़ होता है। मैं बोलूँ या मौन रहूँ—ऐसा जो मानता है, वह जड़वाणी के परिग्रह को अपना मानता है, अत: वह मूढ़ मिथ्यादृष्टि है।

धर्मी तो जानता है कि मैं तो ज्ञातादृष्टा ही हूँ, परद्रव्य की क्रिया मेरे हाथ की नहीं है और ऐसे भानपूर्वक यहाँ तो मुनि के महाव्रत की बात है। जिसको ऐसा भान नहीं है, उसको तो महाव्रत होता ही नहीं। शरीर चले वहाँ ऐसी बुद्धि हो कि यह मैं चलता हूँ, भाषा बोली जाये वहाँ ऐसा माने कि यह मैं बोलता हूँ—तो वह मिथ्यादृष्टि है, वह जड़परिग्रह का स्वामी होता है। धर्मी तो मानता है कि यदि परद्रव्य परिग्रह मेरा हो तो मैं अजीव बन जाऊँ, मैं तो ज्ञातादृष्टा ही हूँ इसलिये कोई भी परद्रव्य का परिग्रह मेरा नहीं है।

अब ६०वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं।

त्यजतु भवभीरुत्वाद्भव्यः परिग्रहविग्रहं
निरुपमसुखावासप्राप्त्यै करोतु निजात्मनि।
स्थितिमविचलां शर्म्माकारां जगज्जनदुर्लभां
न च भवति महच्चित्रं चित्रं सतामसतामिदम्॥८०॥

भव्य जीव भवभीरुता के कारण परिग्रहविस्तार को छोड़ो और निरुपम सुख के आवास की प्राप्ति हेतु निज आत्मा में अविचल, सुखाकार (सुखमयी) तथा जगतजनों को दुर्लभ ऐसी स्थिति (स्थिरता) करो। और यह (निजात्मा में अचल सुखात्मक स्थिति करने का कार्य) सत्पुरुषों को कोई महाआश्चर्य की बात नहीं है, असत् पुरुषों को आश्चर्य की बात है।

जिसे चैतन्य में स्थिर होने की भावना हो और भवभीरुपना हो वह परिग्रह के विस्तार को छोड़ दे। यहाँ मुख्यतया मुनि की बात है। मुनि चैतन्य में स्थिर होने के कामी हैं और भवभीरु हैं। छठे गुणस्थान में अल्पराग है, परंतु मुनि को परिग्रह की ममता नहीं होती और बाहर में भी परिग्रह नहीं होता। उससे यहाँ कहते हैं कि अहो मुनि! छठे गुणस्थान में राग का विकल्प है, उसे भी छोड़कर अप्रमत्त होओ.... अप्रमत्त होओ! चैतन्य की लीनता में ठहरो! निजात्मा में अविचल स्थिरता ही निरुपम सुख की प्राप्ति का उपाय है। इसलिये हे मुनियों! निरुपम सुख का आवास—ऐसे आत्मा की प्राप्ति के लिये शुद्ध आत्मा में अविचलपने सुखाकार स्थिति करो। ऐसी निजात्मा में स्थिति मुनिवरों को सहज है—वह कहीं सत्पुरुषों को आश्चर्यजनक नहीं है। असत्पुरुषों को अर्थात् जिन्हें आत्मा का भान नहीं है—ऐसे जीवों को वह आश्चर्य की बात है। यहाँ मुनि को छठे गुणस्थान में विकल्प है, उसे छोड़कर सातवें गुणस्थान की स्थिरता करने को कहते हैं।

इसप्रकार पाँच महाव्रतों का वर्णन किया।

द्रव्यसंग्रह प्रवचन

वृहद्द्रव्यसंग्रह पर पूज्य स्वामीजी के प्रवचन सन् १९५२ में हुए थे। जिज्ञासु पाठकों के लाभार्थ उन्हें यहाँ क्रमशः दिया जा रहा है।

[गतांक से आगे]

[गतांक से आगे]

अब प्रदेश का लक्षण कहते हैं:—

जावदियं आयासं अविभागीपुग्गलाणुउट्टद्धं।
तं खु पदेसं जाणे सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं॥२७॥

जितना आकाश एक अविभागी पुद्गल परमाणु से रोका जाता है, उसे सर्व अणुओं को स्थान देने योग्य प्रदेश जानो।

एक परमाणु जितना स्थान रोकता है, उसे प्रदेश कहते हैं। आकाश के इन प्रदेशों की ताकत इतनी है कि इसमें दुनियाँ के सभी परमाणु सूक्ष्मपने को धारण कर समा जाते हैं। जिसप्रकार आत्मा के ज्ञान में संपूर्ण ज्ञेयों को जानने की ताकत है, धर्मास्तिकाय में अनंतानंत जीव और पुद्गलों की गति में और अधर्मास्तिकाय में उन्हीं की स्थिति में निमित्त होने की ताकत है; उसीप्रकार आकाश के एक प्रदेश में जितने द्रव्य आयें, उन सभी के अवगाहन में निमित्त होने की शक्ति है।

ज्ञान में झलकनेवाले ज्ञेयों का स्वभाव अपरिमित है और ज्ञेयों को जाननेवाले आत्मा का ज्ञानस्वभाव भी अपरिमित है।

अरे भाई! एक समय में सभी ज्ञेयों को जान ले ऐसी तेरी सामर्थ्य है। परंतु अज्ञानी को इसका माहात्म्य नहीं आता, रागद्वेषादि कषाय और परज्ञेयों का ही माहात्म्य आता है।

आकाश तो ज्ञेय है, उसके एक प्रदेश की ताकत कितनी? इसका वर्णन किया, इसे भी ज्ञान जानता है। इससे ज्ञान का माहात्म्य आता है।

हे शिष्य! जितना आकाश एक पुद्गल परमाणु से व्याप्त है, उसे स्पष्टरूप से प्रदेश जानो। कैसा है वह प्रदेश? बहुत से परमाणु सूक्ष्मपने परिणमित हों तो उन सभी को अवगाह देने की शक्ति उसमें है। इसलिये वह प्रदेश अनंत परमाणुओं को अवगाह देने की सामर्थ्यवाला है।

आत्मा का स्वभाव ज्ञान है, जिसे सुख-दुःख होता है, उसके ज्ञान की सामर्थ्य कितनी-यह जाननेयोग्य है। अतः उसे ही जानना चाहिये।

ओह... हो! वीतराग परमात्मा की बात है कि धर्म बाहर की वस्तु नहीं है, अपितु वस्तु का स्वभाव है। ज्ञान में झलकनेवाले ज्ञेय हमारे नहीं हैं, केवल हमारे द्वारा जाने जाते हैं।

वर्तमान में राग-द्वेष और अल्पज्ञता होने पर भी निजस्वभाव का आश्रय लेने पर वीतरागता और केवलज्ञान प्रगट होता है।

असंख्यातप्रदेशी आकाश में अनंतानंत जीव और पुद्गल द्रव्य रहते हैं। यह आकाश के क्षेत्र की शक्ति है। यहाँ क्षेत्र का माहात्म्य नहीं है, परंतु उसे जाननेवाले असंख्यात प्रदेशी आत्मा के स्वपर-प्रकाशक ज्ञान का माहात्म्य है।

अहाहा, आत्मा है, स्व और पर दोनों को जाननेवाला है। और भी पाँच अजीव द्रव्य लोक में हैं। अज्ञानी को उनकी और अपनी खबर नहीं है, न हो तो न हो, परंतु जाननेवाला तो आत्मा ही है। अज्ञानी राग को, पुण्य को, और अपने से भिन्न अन्य द्रव्यों को अपना जानता है। आत्मा का स्वभाव जानना है, इसलिये संसारी जीव पुण्य-पापादि रागपरिणाम और अन्य द्रव्यों को अपना न जानकर अपने को ही जाने तो धर्म होता है।

जीव और पुद्गलों को अवगाह देने की सामर्थ्य आकाशद्रव्य में है—ऐसा कथन आगम में आता है। भूतकाल में जितने सिद्ध हो चुके हैं, उनसे अनंत गुणे जीव एक निगोदिया शरीर में होते हैं, सभी ज्ञानानंदमय हैं-यही भगवान ने केवलज्ञान में जाना है।

यह लोक अनेक प्रकार के सूक्ष्म और स्थूल अनंतानंत पुद्गल परमाणुओं से ठसाठस भरा है, इसे भी जानने की ताकत आत्मा में है—इसप्रकार आत्मा का माहात्म्य आये तो पर का, राग का, व्यवहारादि का माहात्म्य नहीं आता है। दया, दान, भक्ति आदि व्यवहार शुभविकल्प हैं और चारित्रगुण की विपरीत दशा है, विभावपर्याय है। विभाव होने से वह अधर्म है। सम्यग्दृष्टि को इनका माहात्म्य नहीं होता।

राग की उत्पत्ति नहीं होना अहिंसा है और राग का उत्पन्न होना ही हिंसा है।

शंका - मूर्तिक पुद्गलों के अणु द्विअणु स्कंध आदि में भेद हो तो कोई विरोध नहीं, परंतु अखंड और अमूर्त आकाशद्रव्य के भेदकल्पना किसप्रकार संभव है। अर्थात् पुद्गलद्रव्य में एक परमाणु, दो परमाणु और स्कंध आदि पृथक्-पृथक् भेदरूप हो जाये पर आकाशद्रव्य में भेद कैसे हो सकता है?

समाधान - यह शंका ठीक नहीं है; क्योंकि अमूर्त और अखंड आकाशद्रव्य में भी अंश कल्पना हो सकती है, यह बात जयसेन आचार्य की टीका में भी आती है।

रागादि उपाधि से रहित निज आत्मा की प्रत्यक्ष भावना से अर्थात् स्वसंवेदन से उत्पन्न जो सुखरूप अमृतरस है—जिसके आस्वाद से तृप्त दो मुनियों के रहने का क्षेत्र एक है या अनेक ?

देखो ! इस दृष्टांत में वर्णित दोनों मुनि छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलते हुए भावलिंगी संत हैं। प्रथम आत्मानुभवरूप सम्यग्दर्शन हुआ, तत्पश्चात् स्वरूपलीनता होने से बहुत रागादि भावों का अभाव जिसके हुआ वही मुनि है। ऐसे मुनि को अट्ठाईस मूलगुणों के पालन का जो विकल्प आता है, वह भी उपाधि है, ऐसा वे समझते हैं और उपाधिरहित अपनी आत्मा के शांतस्वरूप ज्ञानस्वभाव में निर्विकल्प दशारूप अनुभूति में लीन हो जाते हैं-ऐसे दोनों मुनियों के रहने का स्थान एक ही है या अलग-अलग ?

अरे भाई ! यदि दोनों मुनियों के रहने का क्षेत्र एक ही हो तो दोनों में एकत्व हो जाये, दोनों अलग-अलग न रहें, परंतु ऐसा कभी भी संभव नहीं है। इसलिये निश्चित है कि दोनों का क्षेत्र अलग-अलग है। घटाकाश, पटाकाश आदि से अखंड आकाश में भी भेदकल्पना सिद्ध होती है। आकाश के अखंड होने पर भी दोनों मुनि अलग-अलग क्षेत्र में हैं, अतः आकाश में भिन्न-भिन्न प्रदेशकल्पना सिद्ध है। आकाश के जिस भाग में घड़ा है, वहाँ वस्त्र नहीं है; और जहाँ वस्त्र है, वहाँ घड़ा नहीं है। दोनों के ही प्रदेश भिन्न-भिन्न हैं।

इसप्रकार श्री नेमिचंद्रसिद्धांतदेव विरचित द्रव्यसंग्रह में नमस्कारादि २७ गाथाओं द्वारा तीन अंतराधिकारों द्वारा छह द्रव्य और पंचास्तिकाय का प्रतिपादन करनेवाला प्रथम अधिकार समाप्त हुआ।

अब छह द्रव्यों का चूलिकारूप से अर्थात् उपसंहार तरीके से विशेष व्याख्यान करते हैं:—

परिणामि जीवमुत्तं, सपदेसं एय-खेत्त-किरिया य।
णिच्चं कारण कत्ता सव्वगदमिदरंहि यपवेसे॥१॥
दुण्णि य एयं एयं, पंच त्तिय त्तिय एय दुण्णि चउरो य।
पंच य एयं एयं, एदेसं एय उत्तरं णेयं॥२॥

पूर्वोक्त छहों द्रव्यों में जीव और पुद्गल दो ही द्रव्य परिणामी हैं, जिनमें जीवद्रव्य चेतन

और अमूर्तिक, पुद्गलद्रव्य अचेतन और मूर्तिक है। तथा जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश ये पाँच द्रव्य प्रदेशसहित हैं।

धर्म, अधर्म और आकाश ये तीनों द्रव्य संख्या में एक-एक ही हैं। क्षेत्रवाला अकेला आकाशद्रव्य है। क्रियासहित जीव और पुद्गलद्रव्य हैं। नित्यद्रव्य धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार हैं। कारणद्रव्य पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये पाँच हैं। कर्ताद्रव्य एक जीवद्रव्य है, सर्वव्यापक आकाश है (एक क्षेत्रावगाह होने पर भी)। इन छहों द्रव्यों में परस्पर प्रवेश नहीं है अर्थात् एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में कभी भी प्रवेश नहीं करता। ये छहों मूलद्रव्यों के उत्तरगुण जानना। अब विशेष व्याख्यान करते हैं।

देखो! यहाँ मूल में कहा है कि एक द्रव्य अन्य द्रव्य का कारण नहीं है। परस्पर किसी का किसी में प्रवेश भी नहीं होता। छुरी के निमित्त से शरीर में घाव का होना और खून का निकलना दिखाई देता है, परंतु छुरी के कारण ऐसा नहीं होता; छुरी की मौजूदगी अर्थात् संयोग होता है, पर उससे न तो घाव होता है और न ही खून निकलता है। वास्तव में तो छुरी ने शरीर को छुआ ही नहीं क्योंकि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में प्रवेश करता ही नहीं, अतः छुरी के कारण खून निकला, घाव हुआ-ऐसा मानना ठीक नहीं है। और छुरी के कारण शरीर में घाव हुआ, आत्मा को दुख हुआ ऐसा मानना भी मिथ्या है। तथा अंगुलियों के कारण छड़ी नहीं चलती है, क्योंकि छड़ी और अंगुली दोनों में ही क्रियावती शक्ति है, तथा दोनों में ही जो क्रिया होती है, वह एक दूसरे में प्रवेश किये बिना स्वतंत्र होती है।

यहाँ कहते हैं कि एक परमाणु दूसरे परमाणु में प्रवेश नहीं करता। अनंत पुद्गल परमाणुओं का स्कंध अन्य स्कंधों के साथ एकक्षेत्रावगाही होकर भी परस्पर अछूते रहते हैं। इसप्रकार सभी पदार्थ भिन्न-भिन्न हैं और सबकी क्रिया भी अलग-अलग हो रही है, इस व्यवहार ज्ञान बिना प्रतीति भी सम्यक् नहीं होती।

इन अंगुलियों के द्वारा लकड़ी घूमती है—ऐसा अज्ञानी मानता है, क्योंकि वह संयोग को देखता है। लकड़ी का क्षेत्र से क्षेत्रांतर होना स्वभाव है, अज्ञानी उसे नहीं देखता। आत्मा में कर्म का प्रवेश नहीं, शरीर का आत्मा में प्रवेश नहीं, आत्मा का शरीर में प्रवेश नहीं—ऐसा यथार्थ ज्ञान किये बिना व्यवहारश्रद्धा भी नहीं होती। निश्चयश्रद्धा की तो बात ही क्या है।

[क्रमशः]

ज्ञान-गोष्ठी

सायंकालीन तत्त्वचर्चा के समय विभिन्न मुमुक्षुओं द्वारा पूज्य स्वामीजी से किये गये प्रश्न और स्वामीजी द्वारा दिये गये उत्तर।

प्रश्न : समयसार की टीका करने से मलिनता नाश होती है क्या ?

उत्तर : टीका करने के विकल्प से मलिनता नाश नहीं होती। हाँ, टीका के काल में दृष्टि के बल से अंतर में एकाग्रता बढ़ती जाती है, उससे मलिनता नाश होती है। तब उपचार करके टीका से मलिनता नाश होती है—ऐसा व्यवहार से कहा है।

प्रश्न : श्री वादिराज मुनिराज का कुष्ठरोग स्तुति करते ही मिट गया, मानतुंगाचार्यदेव के कारागार के ताले स्तुति करने से टूट गए, सीताजी के निर्दोष शील से अग्नि भी जलरूप हो गई-ऐसा कथन शास्त्र में आता है-इससे हम क्या समझें ?

उत्तर : पूर्व के पुण्य के योग से वादिराज मुनिराज का कुष्ठ मिट गया, मानतुंगाचार्य के ताले टूट गये और सीताजी का अग्निकुंड भी जल सरोवर बन गया, तब उस पुण्योदय का आरोप वर्तमान प्रभु-भक्ति और ब्रह्मचर्य आदि पर करने में आया—ऐसी प्रथमानुयोग की कथनपद्धति है—उसे यथावत् समझना चाहिये। मोक्षमार्गप्रकाशक में पंडित टोडरमलजी ने इसका विशेष स्पष्टीकरण किया है, वहाँ से देख लेना।

प्रश्न : द्रव्यानुयोग का पक्षपाती निश्चयाभासी हो सकता है क्या ?

उत्तर : हाँ, निश्चय का ज्ञान तो कर ले और अनुभव न करे तथा अपने को अनुभवी मान बैठे तो वह निश्चयाभासी है।

प्रश्न : शास्त्र में पुण्य को हेय कहा है, तो क्या हमारी अब तक की गई पूजा-भक्ति-व्रतादि पानी में गये ?

उत्तर : नहीं, नहीं, पानी में नहीं गये-व्यर्थ नहीं गये। इन पूजा-भक्ति-व्रतादि से पुण्य बँधता है और उससे भव मिलता है, परंतु भवरहित नहीं होते।

प्रश्न : तब हमें पूजा-भक्ति आदि करना चाहिये या नहीं ?

उत्तर : करने न करने की बात नहीं है। करने योग्य कार्य तो राग से भिन्नता करके एकमात्र आत्मा की अनुभूति करना ही है। आत्मा ज्ञानस्वरूप पूर्णानंद प्रभु है, उसके सन्मुख ढलने पर धर्मीजीव को जब तक पूर्ण स्थिरता न हो तब तक पूजा-भक्ति-व्रतादि का शुभराग आता है, होता है, भूमिकानुसार शुभराग आये बिना रहता नहीं; किंतु धर्मीजीव उसको धर्म या धर्म का कारण नहीं मानता, वह शुभराग पुण्यबंध का कारण है—ऐसा जानता है।

प्रश्न : क्या व्यवहाररत्नत्रय मोक्ष का वास्तविक कारण नहीं है ?

उत्तर : हाँ, जो मोक्ष का कथन-मात्र कारण है ऐसा व्यवहाररत्नत्रय तो भवसागर में डूबे हुए जीवों ने पहले भव-भव में सुना है और किया भी है। दया, दान, भक्ति, व्रत, तपादि शुभराग का व्यवहार तो भवसागर में डूबे हुए जीवों ने अनंत बार श्रवण करके आचरण भी किया है, परंतु वह व्यवहाररत्नत्रय तो कहने मात्र ही मोक्ष का कारण है, वास्तव में देखा जाये तो वह बंध का ही कारण है। जो राग दु:खरूप है, विषरूप है, वह अमृतरूप मोक्ष का कारण कैसे हो सकता है ? देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति-पूजा, जिनमंदिर-निर्माण, गजरथ निकालना आदि तो भव-भव में अनंत बार किया है, शास्त्र का ग्यारह अंग का ज्ञान, नवतत्त्व की भेदरूप श्रद्धा और व्रत-तपादि का आचरण पहले अनंत बार किया है, किंतु अरेरे ! खेद है कि जो सर्वथा एक ज्ञानस्वरूप है, ऐसे परमात्मतत्त्व को जीव ने कभी सुना नहीं, आचरण किया नहीं, अत: भवार्णव से पार हुआ नहीं।

प्रश्न : आत्मा को क्रोधादिरूप अथवा ज्ञानरूप कौन करता है ? क्या कर्म का उदय अथवा प्रतिकूल संयोग उसे अज्ञानरूप नहीं करते ?

उत्तर : जिसप्रकार श्वेत शंख चाहे जितनी काली मिट्टी खावे तथापि वह काली मिट्टी उसे श्वेत से कृष्ण नहीं कर सकती; उसीप्रकार चैतन्यस्वरूप आत्मा को चाहे जितना तीव्र कर्मोदय आवे अथवा प्रतिकूल संयोग उपस्थित हो तो भी वे ज्ञानस्वरूप आत्मा को अज्ञानरूप नहीं कर सकते अथवा क्रोधादि कषायरूप नहीं परिणमा सकते। आत्मा जो क्रोधादि अज्ञानरूप परिणमता है वह तो अपने ही अपराध से परिणमता है, परद्रव्य तो आत्मा को बिलकुल विकार नहीं करा सकता। देव-गुरु आदि परद्रव्य के कारण आत्मा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप से होता है - ऐसा है नहीं; आत्मा तो स्वयं ही स्वयं से

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमन करता है और तभी रत्नत्रयगुण प्रकट होता है। परद्रव्य आत्मा को ज्ञानी या अज्ञानी बिलकुल कर ही नहीं सकता। आत्मा स्वयं ही अपने अपराध से क्रोधादिरूप और अपने गण से ज्ञानरूप होता है।

प्रश्न : रागादिक की तथा ज्ञान की उत्पत्ति एक ही क्षेत्र और एक ही समय में होती है, फिर इन दोनों की भिन्नता किसप्रकार है ?

उत्तर : जिससमय और जिस क्षेत्र में रागादिक की उत्पत्ति होती है, उसीसमय और उसी क्षेत्र में ज्ञान की उत्पत्ति होती होने से अज्ञानी को भ्रम से वे दोनों एक ही प्रतीत होते हैं, फिर भी वे रागादिक और ज्ञान स्वभाव से भिन्न-भिन्न ही हैं—एक नहीं। बंध का लक्षण रागादि और चैतन्य का लक्षण जानना है—इसप्रकार दोनों के लक्षण भिन्न हैं। रागादिक का चैतन्य के साथ एक ही समय और एक ही क्षेत्र में उपजना होता है, वह चेत्य-चेतक, ज्ञेय-ज्ञायकभाव की अति निकटता से होता है, किंतु एकद्रव्यपने के कारण नहीं। जिसप्रकार प्रकाश में आते हुए, घट-पटादि पदार्थ दीपक के प्रकाशपने की प्रसिद्धि करते हैं, घट-पटादि की नहीं; उसीप्रकार जानने में आते हुए रागादिकभाव आत्मा के ज्ञायकपने की ही प्रसिद्धि करते हैं, रागादिक की नहीं। कारण कि प्रकाश दीपक से तन्मय है इसलिये प्रकाश दीपक की प्रसिद्धि करता है। ज्ञान भी आत्मा से तन्मय होने से आत्मा को प्रकाशित-प्रसिद्ध करता है, रागादिक को नहीं। काम-क्रोधादिभाव ज्ञान में ज्ञात होते हैं, वे वास्तव में रागादिक को नहीं प्रकाशते, क्योंकि रागादि ज्ञान में तन्मय नहीं हैं, किंतु रागादिक से संबंधित ज्ञान अपने ज्ञान को प्रकाशित करता है। चैतन्य स्वयं प्रकाशकस्वभावी होने से परसंबंधी अपने ज्ञान को प्रकाशता है, पर को नहीं प्रकाशता। पहले कहा कि आत्मा पर को प्रकाशित करता है, वह व्यवहार से बात की थी; किंतु वास्तव में देखा जाये तो आत्मा पर-संबंधी अपने ज्ञान को ही प्रकाशित करता है। यह समस्त जगत की वस्तुयें हैं, वे ज्ञानप्रकाश में आ नहीं जातीं और ज्ञानप्रकाश भी जगत की वस्तुओं में चला नहीं जाता। जगत की वस्तुयें हैं, उन संबंधी अपनी परप्रकाशता ज्ञानप्रकाश को ही प्रकाशित करती हैं। इससे सिद्ध हुआ कि बंधस्वरूप रागादि का और प्रकाशस्वरूप ज्ञान का लक्षण भिन्न होने से उनमें परस्पर एकत्व नहीं है। उन दोनों के स्व-लक्षण भिन्न-भिन्न जानकर भगवती प्रज्ञाछेनी को उन दोनों की

अन्तरंगसंधि में पटकने से अर्थात् ज्ञान को आत्मा के सन्मुख करने से राग से भिन्न चैतन्य के अतीन्द्रिय आनंद का अनुभव होता है।

प्रश्न : राग और आत्मा की सूक्ष्म संधि दिखलाई नहीं पड़ती, अन्य विचार आते रहते हैं, तो प्रज्ञाछैनी कैसे पटकें ?

उत्तर : स्वयं विपरीत पुरुषार्थ करता है इसलिये अन्य विचार आते हैं। पुरुषार्थ करके उपयोग को स्वभाव-सन्मुख सूक्ष्म करे तो आत्मा और बंध की संधि अवश्य दृष्टिगोचर हो और दोनों को भिन्न कर सके।

प्रश्न : द्रव्यस्वभाव में विकार है ही नहीं; तो कारणपरमात्मा को पापरूप बहादुर शत्रुसेना को लूटनेवाला क्यों कहा ?

उत्तर : यह तो पर्याय से बात की है। पर्याय में रागादिभाव हैं, वे स्वभाव-सन्मुख ढलने पर उत्पन्न ही नहीं होते, ऐसी स्थिति में उन्हें नाश किया—ऐसा कथनमात्र कहा जाता है। द्रव्यस्वभाव में तो रागादिभाव अथवा सम्यग्दर्शन, चारित्र, केवलज्ञान या सिद्धपर्याय आदि कोई भी पर्याय है ही नहीं। संसार-मोक्ष तो सब पर्यायों का खेल है, द्रव्यस्वभाव में यह पर्यायें हैं ही नहीं। त्रिकाली द्रव्यस्वभाव एक रूप है; उसे न तो कुछ ग्रहण ही करना है और न कुछ छोड़ना। ज्ञायकभाव तो शाश्वत ही है—तीन कषायों का अभाव करके अतीन्द्रिय आनंद का स्वाद लेनेवाले दिगंबर संतों ने अंतर की बात अजब-गजब की है। ऐसी बात दिगंबर संतों के अतिरिक्त भरतक्षेत्र में अन्यत्र है ही नहीं; वे कहते हैं कि सब जीव सुखी होवें, कोई जीव दु:खी न होवे, सभी जीव मुक्तदशा को प्राप्त करें, प्रत्येक आत्मा मुक्त स्वभावी ही है।

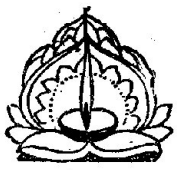

समाचार दर्शन

सोनगढ़ : पूज्य गुरुदेवश्री सुख-शांति में विराजमान हैं, सभी कार्यक्रम नियमित यथावत् चल रहे हैं।

इस वर्ष लगनेवाला वर्षाकालीन शिक्षण-शिविर ८ अगस्त से २७ अगस्त, ८० तक होगा, जिसमें पूज्य स्वामीजी के प्रवचनों के साथ-साथ डॉ० हुकमचंदजी भारिल्ल, श्री युगलजी, पंडित ज्ञानचंदजी, पंडित नवलभाई शाह, पंडित नेमीचंदजी रखियाल तथा पंडित अभयकुमारजी की कक्षाओं एवं प्रवचनों का लाभ भी प्राप्त होगा। शिविर में नयचक्र, छहढाला, द्रव्यसंग्रह, जैन सिद्धांत प्रवेशिका एवं प्रश्नोत्तरमाला पर कक्षाऐं चलेंगी।

टोडरमल महाविद्यालय, जयपुर के छात्रों को विशेष योग्यता

गत वर्षों की भाँति इस वर्ष भी 'उपाध्याय' परीक्षा में श्री दि० जैन आचार्य संस्कृत कॉलेज, जयपुर से परीक्षा में सम्मिलित श्री टोडरमल दि० जैन सिद्धांत महाविद्यालय के छात्र श्री वीरसागर जैन ने प्रथम स्थान प्राप्त किया। इसी महाविद्यालय के छात्र श्री अशोककुमार गोयल ने चतुर्थ तथा श्री विमलचंद ने पंचम स्थान प्राप्त किया है। स्मरण रहे कि गत दो वर्षों में प्रथम वर्ष में प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय स्थान तथा द्वितीय वर्ष में प्रथम तथा तृतीय स्थान भी इसी विद्यालय के छात्रों को प्राप्त हुए थे।

इस विद्यालय से इस वर्ष उपाध्याय की परीक्षा में १० छात्र सम्मिलित हुए थे, जिनमें ५ छात्र प्रथम श्रेणी में एवं ५ छात्र द्वितीय श्रेणी में उत्तीर्ण हुए हैं। — अखिल बंसल

डॉ० भारिल्लजी द्वारा धर्मप्रभावना

केकड़ी (राज.) : अष्टाह्निका पर्व पर २२ जुलाई को सुप्रसिद्ध आध्यात्मिक प्रवक्ता डॉ० हुकमचंदजी भारिल्ल यहाँ पधारे। आपके प्रतिदिन दोनों समय 'क्रमबद्धपर्याय' एवं अन्य तात्त्विक विषयों पर सारगर्भित व्याख्यान होते थे। रात्रि को प्रवचनों के पश्चात् श्री पंकजजी के भजनों का कार्यक्रम चलता था। स्थानीय संपूर्ण समाज के अतिरिक्त निकटवर्ती अन्य ग्रामों से भी अनेक लोग प्रवचनों का लाभ लेने आये हुए थे।

आपके साथ पधारे श्री टोडरमल दि० जैन सिद्धांत महाविद्यालय के छात्र भी अशोककुमार लुहाड़िया एवं कु० अध्यात्मप्रभा भारिल्ल ने स्थानीय जैन माध्यमिक विद्यालय

में कक्षायें चलायीं। परीक्षा में ८५ छात्रों ने भाग लिया, सभी को पारितोषिक वितरण किया गया। उक्त विद्यालय में श्री वीतराग विज्ञान विद्यापीठ परीक्षाबोर्ड, जयपुर का पाठ्यक्रम चालू किया गया। इस अवसर पर श्री किस्तूरमलजी छीतरमलजी कटारिया की ओर से सिद्धचक्र मंडल विधान का आयोजन किया गया था। इस प्रसंग पर साढ़े तीन हजार से भी अधिक का साहित्य गया तथा आत्मधर्म के ५ आजीवन और २५ वार्षिक ग्राहक बने।

अंत में संपूर्ण समाज की ओर से डॉ० भारिल्लजी का अभिनंदन किया गया।

पंडित ज्ञानचंदजी द्वारा धर्मप्रभावना

दिनांक २१-६-८० से ५-७-८० तक पंडित ज्ञानचंदजी विदिशा वालों का बम्बई, दादर, घाटकोपर तथा मलाड़ में प्रवचनों का विशेष आयोजन किया गया। दोनों समय समयसार तथा मोक्षमार्ग प्रकाशक पर हुए आपके तात्त्विक प्रवचनों से समाज ने लाभ उठाया। इस अवसर पर श्री कुन्दकुन्द कहान दि० जैन तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट को पूर्व में लिखाई गई राशि में से ७८,०२५ रुपये तथा नई लिखाई गई २४,५१० रुपये की राशि प्राप्त हुई। इसके साथ ही टोडरमल स्मारक भवन, जयपुर को ज्ञानदान में २,५०० रुपये तथा पाठशाला अनुदान में २५१ रुपये—इसप्रकार सब मिलाकर कुल एक लाख पाँच हजार दो सौ छियासी रुपये की आय हुई। युवा फैडरेशन की स्थानीय शाखाओं ने शिक्षण-शिविर लगाने की माँग की। युवा फैडरेशन के मंत्री श्री परमात्मप्रकाशजी भारिल्ल ने संस्था की भावी योजनाओं पर प्रकाश डाला तथा युवकों को तत्त्वज्ञान में लगने की प्रेरणा दी।

दिनांक ११-७-८० से १७-७-८० तक छत्तीसगढ़ क्षेत्र के खैरागढ़, छुई खदान, डोगरगाँव, राजनाँदगाँव, दुर्ग, भिलाई तथा डोंगरगढ़ में दोनों समय आपके आध्यात्मिक प्रवचन हुए। इस अवसर पर कुन्दकुन्द कहान तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट एवं सर्वोदय ट्रस्ट को नई तथा पुरानी घोषणा से कुल ५०,२१०.०० रुपये की आय हुई।

दिनांक १९-७-८० से २८-७-८० तक आपके चार दिन सनावद तथा एक-एक दिन महेश्वर, वीड, बडवाह एवं खंडवा में भी प्रवचन हुए। यहाँ से कुल ३४,४९९ रुपये इन आठ दिनों में तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट को प्राप्त हुए। सभी स्थानों पर अच्छी धर्म प्रभावना हुई।

— माणिकलाल आर० गाँधी

अनेक शिक्षण-शिविर सानंद संपन्न

कलकत्ता - स्थानीय दिगम्बर जैन नवयुवक समिति के तत्त्वावधान में दिगम्बर जैन नये मंदिर में आयोजित पंचम धर्मशिक्षण-शिविर २० जुलाई से ३० जुलाई ८० तक सानंद संपन्न हुआ। सेठ घमंडीलालजी की अध्यक्षता में श्री मिश्रीलालजी काला ने दीप प्रज्वलित कर शिविर का उद्घाटन किया। स्वागताध्यक्ष श्री सौभाग्यमलजी पाटनी ने बाहर से पधारे विद्वानों का स्वागत किया। पंडित जतीशचंदजी शास्त्री के प्रात: ८ से ९ समयसार पर प्रवचन होते थे एवं सायं ७ से ८ वे बालबोध भाग १ से ३ की प्रौढ़ कक्षाऐं लेते थे। पंडित अभयकुमारजी शास्त्री के प्रात: ७ से ८ मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रंथ पर प्रवचन चलते थे तथा पंडित राकेशकुमारजी द्वारा सायंकाल ७ से ८ बच्चों की कक्षाएं ली जाती थीं। प्रतिदिन प्रवचन के पश्चात् बालबोध पाठमालाओं में संवाद रोचक ढंग से छात्रों द्वारा प्रस्तुत किये जाते थे। २९ जुलाई को छात्रों की परीक्षाऐं ली गईं। ३० जुलाई को उत्तीर्ण छात्रों को घमंडीलालजी के कर-कमलों द्वारा प्रमाण-पत्र एवं पुरस्कार वितरित किये गये।

एक दिन को समीपस्थ बाली ग्राम स्थित दिगम्बर जैन मंदिर में भी पंडित जतीशचंदजी एवं पंडित अभयकुमारजी के प्रवचन हुए। आत्मधर्म के भी अनेक ग्राहक बने।

बड़नगर (म.प्र.) : स्थानीय वीर सेवा संघ के तत्त्वावधान में आध्यात्मिक वीतराग विज्ञान शिक्षण शिविर का आयोजन किया गया। शिविर का उद्घाटन मालवा प्रान्तिक सभा के स० महामत्री श्री विमलचंदजी शाह द्वारा दीप प्रज्वलित कर किया गया। प्रवचन एवं अध्यापन के लिये सर्वश्री पंडित रतनचंदजी भारिल्ल, श्रीमती कमला भारिल्ल, पंडित जतीशचंदजी शास्त्री, एवं पंडित प्रदीपकुमारजी झांझरी उज्जैन से एवं भाई अजीतकुमारजी एवं जम्बुकुमारजी पधारे। शिविर में १६० विद्यार्थियों ने परीक्षाएँ दीं। समापन समारोह पर सभी परीक्षार्थियों को श्री मोतीलालजी काला द्वारा पुरस्कार वितरण किया गया। इस शिविर के संपन्न होने में अ० भा० जैन युवा फैडरेशन का विशेष सहयोग प्राप्त हुआ। **— प्रदीप काला**

इंदौर (म०प्र०) : १३ मई से २६ जून तक आध्यात्मिक शिक्षण शिविर एवं प्रवचनों के प्रभावशाली कार्यक्रम १.३० माह तक नगर के विभिन्न भागों में आयोजित किये गये। सभी स्थानों पर साधर्मी बंधुओं ने पर्याप्त लाभ उठाया।

१३ मई से १५ जून तक पंडित कैलाशचंदजी बुलंदशहर वालों की तीनों समय विभिन्न स्थानों पर शिक्षण कक्षाऐं चलाई गयीं। इसके पश्चात् १२ जून से २६ तून तक शिक्षण समिति के वार्षिक कार्यक्रम के अंतर्गत १६वाँ शिक्षण-शिविर आयोजित किया गया। समाज के विशेष आमंत्रण पर पंडित धन्नालालजी ग्वालियर, पंडित हिम्मतलाल बम्बई, पंडित केशरीचंदजी 'धवल' कोथली, डॉ० प्रियंकर जैन नासिक तथा स्थानीय विद्वान पंडित केशरीमलजी बंडी ने पधारकर समाज में कक्षाओं एवं प्रवचनों द्वारा जागृति उत्पन्न की।

—जमनालाल जैन

अष्टाह्निका महापर्व संपन्न

जयपुर (राज०) : स्थानीय टोडरमल स्मारक भवन में अष्टाह्निका पर्व पर स्व० मिलापचंदजी की धर्मपत्नी की ओर से सिद्धचक्र मंडल विधान का आयोजन किया गया। प्रतिदिन प्रातः ६ से ९ तक पूजन-विधान व रात्रि को शास्त्र-प्रवचन होता था। अंतिम दिन पूजन समाप्ति के पश्चात् सभी को 'क्रमबद्धपर्याय' पुस्तक भेंटस्वरूप दी गई। **— हेमचंद जैन**

गुना (म०प्र०) : अष्टाह्निका पर्व पर सिद्धचक्र मंडल विधान का आयोजन किया गया। इस अवसर पर पंडित धन्नालालजी ग्वालियर वालों के समयसार एवं मोक्षमार्ग प्रकाशक पर तात्त्विक प्रवचन चलते थे। अ० भा० जैन युवा फैडरेशन की स्थानीय शाखा के तत्त्वावधान में शिक्षण-शिविर का आयोजन भी किया गया। अंत में समाज एवं युवा फैडरेशन की ओर से पंडितजी का अभिनंदन किया गया। **— कमल जैन**

युवा फैडरेशन की गतिविधियाँ

खनियाधाना (म०प्र०) : अ० भा० जैन युवा फैडरेशन के तत्त्वावधान में विभिन्न विद्वानों का समागम प्राप्त हुआ। १२ जून से २८ जून तक पंडित शांतिकुमारजी मौ, ५ जुलाई से १७ जुलाई तक पंडित केशरीचंदजी 'धवल' कोथली, २९ जून २८ जुलाई तक पंडित राजकुमारजी शास्त्री जयपुर तथा पंडित शिखरचंदजी शास्त्री जयपुर आदि विद्वानों के प्रभावशाली आध्यात्मिक प्रवचनों से समाज को अच्छा लाभ मिला। **— सुनील जैन 'सरल'**

सनावद (म०प्र०) : दिनांक २८-७-८० को अ० भा० जैन युवा फैडरेशन की स्थानीय शाखा ने तत्त्वावधान में 'युवा दिवस' उत्साहपूर्वक मनाया गया। नंदीश्वर मंडल

विधान के अतिरिक्त एक दिन के लिए पंडित विनोदकुमारजी पधारे। आपके तीनों समय मार्मिक प्रवचन हुए। **— महेन्द्रकुमार जैन**

उज्जैन (म०प्र०) : श्रीमती चन्द्रप्रभादेवी की अध्यक्षता में अ० भा० जैन युवा फैडरेशन की स्थानीय शाखा के वार्षिक चुनाव हुए। अध्यक्ष श्री प्रकाशचंदजी झांझरी चुने गए। श्री विमलचंदजी झांझरी के 'परमात्मप्रकाश' पर प्रवचन हुए तथा युवा फैडरेशन के तत्त्वावधान में अकलंक-निकलंक नाटक का सफल प्रदर्शन हुआ। **— पदमकुमार जैन**

वीतराग-विज्ञान पाठशालाओं की निरीक्षण रिपोर्ट

भारतवर्षीय वीतराग-विज्ञान पाठशाला समिति के निरीक्षक पंडित रमेशचंदजी ने जुलाई, ८० में ग्वालियर (माधोगंज, पार्श्वनाथ ट्रस्ट, बड़ा मंदिर, डीडवाना ओली, सर्राफा बाजार) में चल रहीं पाठशालाओं का निरीक्षण करके शिवपुरी, कोलारस, ब्याना, गुना, राघौगढ़, कुंभराज, बाराँ, कोटा, लाखेरी, इंदरगढ़, ऐत्मादपुर, शिकोहाबाद, इटावा, जसवंतनगर, भिंड, झाँसी, ललितपुर तथा सागर में चल रहीं पाठशालाओं का निरीक्षण किया। निरीक्षण में पाया कि अधिकांश पाठशालाएँ बारहों महीने चलती रहने पर भी मात्र फरवरी में होनेवाली शीतकालीन परीक्षा में ही छात्रों को सम्मिलित करती हैं, अब निरीक्षक महोदय की प्रेरणा से ग्रीष्मकालीन परीक्षा में छात्रों को बैठाने का आश्वासन दिया है। जुलाई से पाठशालाएँ पुनः सक्रिय रूप से चालू हो गई हैं, पढ़ाई चालू हो गई हैं। **— मंत्री, पाठशाला समिति**

दुर्ग (म०प्र०) : एक दिवस के लिये पंडित ज्ञानचंदजी विदिशा से पधारे। आपके तात्त्विक प्रवचन से समाज ने लाभ लिया। इस अवसर पर कुन्दकुन्द कहान तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट को सात हजार से अधिक की धनराशि प्राप्त हुई। **—कुंदनमल सेठी**

भीलवाड़ा (राज०) : १५ जून ८० को चित्तौड़ दुर्ग के सुप्रसिद्ध दिगम्बर जैन मंदिर की राष्ट्रीय समिति की बैठक संपन्न हुई। चित्तौड़ दुर्ग पर प्रतिवर्ष मंगसर सुदी ११ को विशाल मेले का आयोजन करने का निर्णय लिया गया। **—निहाल अजमेरा**

बड़बाह (म०प्र०) : दिनांक २०-७-८० से २७-७-८० तक पंडित विनोदकुमारजी जयपुर के तात्त्विक प्रवचन हुए, जिनसे समाज ने लाभ उठाया।

आवश्यकता है : एक ऐसे शास्त्रीय विद्वान की जो स्थानीय जैन मिडिल स्कूल में धर्माध्यापन का कार्य तथा शास्त्र प्रवचन कर सके। ट्रेंड ग्रेज्यूएट होने पर उसको प्रधानाध्यापक भी बनाया जा सकता है। धार्मिक व सामाजिक रुचि रखनेवाले व्यक्ति को प्राथमिकता दी जायेगी, वेतन योग्यतानुसार अच्छा दिया जायेगा। **—मिश्रीलाल कटारिया**

मु० पो० केकड़ी, जिला अजमेर (राज०)

नया प्रकाशन -

डॉ० हुकमचंदजी भारिल्ल की सशक्त लेखनी द्वारा प्रसूत

सत्य की खोज भाग २

[पृष्ठ २०० : मूल्य २ रुपये ५० पैसे]

दोनों भागों का सम्मिलित संस्करण

[पृष्ठ ३७२ : मूल्य ४ रुपये]

छपकर तैयार है, शीघ्र मंगा लें।

कहीं ऐसा न हो कि आप पुस्तक से वंचित रह जायें।

पाठकों के पत्र

गोरमी (म०प्र०) से श्री महावीरप्रसादजी जैन लिखते हैं :-

आत्मधर्म नियमितरूप से पढ़ता हूँ, इसको पढ़ने से अपूर्व शांति मिलती है। यह वास्तव में आत्मा का स्वरूप बतानेवाली अनोखी पत्रिका है। इसके पढ़ने से मेरे मन में अनेक परिवर्तन हुए हैं। पूज्य स्वामीजी ने इसे अपने अनुभव द्वारा बहुत ही सरल बना दिया है। आशा है कि यह सूर्य की तरह हमेशा चमकता रहेगा।

बुरहानपुर (म०प्र०) से श्री विजय जैन लिखते हैं :-

आत्मधर्म की प्रति प्राप्त हुई। सोचता हूँ यह पत्रिका मासिक न होकर साप्ताहिक होती तो कितना अच्छा रहता ? इस पत्रिका के माध्यम से आत्मा का वास्तविक स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। इसके प्रत्येक स्तम्भ वास्तव में ज्ञानज्योति से प्रकाशमान रहते हैं।

अवागढ़ (उ०प्र०) से श्री राजेन्द्रकुमार देवेन्द्रकुमारजी जैन लिखते हैं :-

आत्मधर्म पढ़कर आत्मा में विशेष शान्ति मिलती है। पूज्य गुरुदेव की चित्रकथा 'कहान कथा : महान कथा', नयों की प्रामाणिकता, समयसार, नियमसार, द्रव्यसंग्रह प्रवचन एवं ज्ञानगोष्ठी आदि पढ़कर मन आत्म-विभोर हो उठता है। यह सब डॉ० भारिल्लजी की सूझ-बूझ, लेखन-शैली एवं लगन का प्रतिफल है।

शाहपुर (अहमदाबाद) से श्री आदर्शकुमारजी जैन लिखते हैं :-

आत्मधर्म जैन समाज की सर्वश्रेष्ठ पत्रिका है। वर्तमान में आध्यात्मिक संत परमपूज्य कानजीस्वामी तथा दार्शनिक विद्वान डॉ० हुकमचंदजी भारिल्ल का जैन समाज युग-युग तक ऋणी रहेगा। पूज्य गुरुदेव ने तो वर्तमान में अध्यात्म ज्ञान से अनभिज्ञ जैन समाज में भगवान कुन्दकुन्द की वाणी व उनके समयसार को जन-जन तक पहुँचा दिया है। परमोपकारी गुरुदेव के इस महान उपकार का बदला हम नवयुवक उनकी इस परंपरा को कायम रखकर ही चुका सकते हैं। संपादकीय में 'जिनवरस्य नयचक्रम्' जैसे गूढ़ व गंभीर विषय को सुबोध, सरल व मार्मिक शैली द्वारा जन-जन तक पहुँचाने का सफल प्रयास किया है।

बम्बई (महाराष्ट्र) से श्री हीरालाल शांतिलालजी जैन लिखते हैं :-

आत्मधर्म नियमित आता है, इसको पढ़ने के लिये विशेष उत्सुकता रहती है। आपने नयचक्र जैसे विषय पर लिखकर हम पर बड़ा उपकार किया है। क्रमबद्ध तो क्रमबद्ध ही है।

मद्रास (तमिलनाडु) से श्री बाबूभाई दोशी लिखते हैं :-

'कहान कथा : महान कथा' बहुत रोचक प्रगट हो रही है। वर्तमान पीढ़ी के अतिरिक्त भावी पीढ़ी के लिये भी यह अमूल्य निधि है।

मेहसाना (गुजरात) से श्री झम्मनलाल सी० शाह लिखते हैं:-

आत्मधर्म के अन्य लेखों के साथ संपादकीय 'जिनवरस्य नयचक्रम्' पढ़ते ही डॉ० भारिल्लजी सामने दिखायी देते हैं। 'कहान कथा : महान कथा' पढ़ते ही छोटे बच्चों को प्रेरणा मिलती है और ऐसा लगता है कि आत्मधर्म उनके लिये भी है।

'कहान कथा : महान कथा' की डिजाइन तैयार न हो पाने से उसे इस अंक में नहीं दे पा रहे हैं, इसका हमें खेद है। आगामी अंकों में नियमित रूप से देने का प्रयत्न करेंगे।

आत्मानुभव की उच्च बात

[उच्च होने पर भी हो सकती है और करनेयोग्य है]

कोई कहे कि आत्मा के अनुभव की यह बात बहुत गंभीर है-ऐसा अनुभव तो न जाने किसे होता होगा ?

तो कहते हैं कि हे भाई ! गृहस्थाश्रम में स्थित जीव कर सकता है, इसलिये तुझसे भी हो सकता है-ऐसी यह बात है। अरे ! तू जैन हुआ, जिनवर के मार्ग में आया, और भगवान द्वारा कहे हुए आत्मा का ज्ञान तुझे न हो - ऐसा कैसे हो सकता है ? भगवान ने जो कुछ कहा वह सब करने का सामर्थ्य तुझमें है। अपनी निजशक्ति को सम्हाले-इतनी ही देर है। आत्मा के अनुभव की बात बहुत उच्च है - यह ठीक है; परंतु वह तुझ से हो सके ऐसी है। उच्च है - इसलिये नहीं हो सकती, ऐसा नहीं है। इसलिये इस बात को श्रेष्ठ समझकर उसकी अधिक महिमा लाना और निरंतर प्रयत्न करना; परंतु उच्च है - ऐसा कहकर उसका प्रयत्न न छोड़ देना। बात उच्च है और अपने परम हित की है, इसलिये उद्यम से श्रद्धा-ज्ञान में लेने योग्य है, उच्च कहकर भुला देने जैसी नहीं है। अरे ! आत्मा को समझने का ऐसा अमूल्य अवसर चूक मत जाना। गृहस्थदशा में स्थित चौथे गुणस्थान वाला जीव भी ऐसे आत्मा का अनुभव करता है, और वह जीव तत्त्वज्ञानी है, विचक्षण है, मोक्ष-साधना में चतुर है, विवेकी है, शास्त्रों में कहे हुए सिद्धसमान आत्मा को अंतर्दृष्टि में लेकर उसके अतीन्द्रिय आनंद का वेदन किया है। और ऐसे आत्मा को जो नहीं जानता उसकी अन्य सब पढ़ाई व्यर्थ है,, उसमें सार या हित नहीं, उसके द्वारा मोक्ष की साधना नहीं की जा सकती। अरे ! आत्मा भव से न छूटे और आत्मा को मोक्षसुख का स्वाद न आये, तो वह सब करनी असार है। इसलिये उससे विमुख हो और जिसमें आत्मा का हित हो वह कर।

— पूज्य स्वामीजी

Registration. No. RJ-2712

हमारे यहाँ प्राप्त प्रकाशन *

समयसार	१४-००
मोक्षशास्त्र	१२-००
समयसार कलश टीका	६-००
प्रवचनसार	१२-००
पंचास्तिकाय	७-५०
नियमसार	७-५०
नियमसार पद्यानुवाद	०-४०
अष्टपाहुड़	१०-००
वृहद् द्रव्यसंग्रह	८-००
समयसार नाटक	७-५०
द्रव्यदृष्टिप्रकाश भाग ३	४-५०
समयसार प्रवचन भाग १	६-००
समयसार प्रवचन भाग २	७-००
समयसार प्रवचन भाग ३	७-००
समयसार प्रवचन भाग ४	८-००
पुरुषार्थसिद्धयुपाय	५-००
धर्म की क्रिया	२-००
श्रावकधर्म प्रकाश	४-००
द्रव्यसंग्रह	१-५०
प्रवचन परमागम	२-५०
लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	०-५०
जैनतत्त्व मीमांसा	६-००
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तर माला भाग १	१-५०
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तर माला भाग २	१-५०
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तर माला भाग ३	१-५०
वीतराग-विज्ञान भाग ३	१-००
मुक्ति का मार्ग	१-००
बालपोथी भाग १	०-६०
बालपोथी भाग २	०-६०
ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	४-००
बालबोध पाठमाला भाग १	०-५०
बालबोध पाठमाला भाग २	०-७०
बालबोध पाठमाला भाग ३	०-८५
वीतराग-विज्ञान पाठमालाल भाग १	०-७०
वीतराग-विज्ञान पाठमालाल भाग २	१-००
वीतराग-विज्ञान पाठमालाल भाग ३	१-००
तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग १	१-२५
तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग २	१-४०
सुंदरलेख बालबोध पाठमाला भाग १	०-४०
A Short Reader to Jain Doctrines	०-७५
Tirthankar Bhagwan Mahavira	०-४०
Know Thyself	०-४०
मोक्षमार्गप्रकाशक	६-००
पंडित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व	११-००
तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ	५-००
" " (पॉकेट बुक साइज में हिन्दी में)	२-००
मैं कौन हूँ ?	१-००
तीर्थंकर भगवान महावीर	०-४०
वीतरागी व्यक्तित्व : भगवान महावीर	०-२५
अर्चना (पूजा संग्रह)	०-४०
मैं ज्ञानानंद स्वभावी हूँ (कैलेंडर)	०-५०
युगपुरुष श्री कानजीस्वामी	१-००
वीतराग-विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका	३-००
सत्य की खोज (भाग १)	२-००
आचार्य अमृतचंद्र और उनका पुरुषार्थसिद्धयुपाय — साधारण :	२-००
आचार्य अमृतचंद्र और उनका पुरुषार्थसिद्धयुपाय — सजिल्द :	३-००
धर्म के दशलक्षण — साधारण :	४-००
धर्म के दशलक्षण — सजिल्द :	५-००
क्रमबद्धपर्याय — साधारण :	२-५०
क्रमबद्धपर्याय — सजिल्द :	३-५०
क्रमबद्धपर्याय — प्लास्टिक कवर :	४-५०

Licence No.
P. P. 16-S.S.P. Jaipur City Dn.
Licensed to Post
Without Pre-Payment

If undelivered please return to :
प्रबन्ध-संपादक, आत्मधर्म
ए-४, टोडरमल स्मारक भवन, बापूनगर
जयपुर ३०२००४